शिक्षा

(डॉ० ज़ाकिर हुसेन के शिक्षा-सम्बन्धी अभिभाषण)

अनुवादक
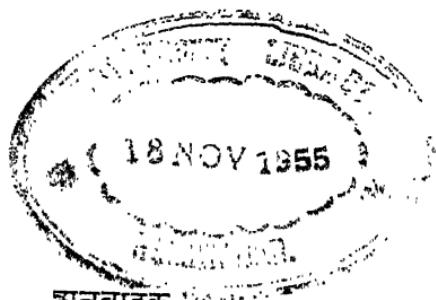
शिवशंकर शर्मा एम० ए०,

प्राध्यापक, हिन्दी-संस्कृत विभाग,

मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़ ।

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद नई दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९५५

मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई।
मुद्रक—श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

समर्पण

प्यारी दीदी ![1] इस किताब के अन्तिम पृष्ठ आज छप कर आए हैं। इन भाषणों में मैंने जो-कुछ कहा है, और जिस तरह कहा है, उसमें आपका बड़ा योग है। जी चाहता है कि आप अनुमति दें, तो यह संग्रह आपको समर्पित करूँ !

आप इस समय बड़े कष्ट में हैं। आपने अपने स्नेह और सेवा से 'जामेआ' के सब साथियों के दिल में जो जगह बना ली है, उसका अनुमान शायद आपको न हो। अगर दुःख-दर्द बँट सकता, तो ये सब उसको आपस में बाँट लेते, और उसका सारा बोझ आप ही पर न छोड़ते। लेकिन क्या कीजिए कि यह किसी के बस की बात नहीं। बस, यह प्रार्थना है कि जिसने यह महान् कष्ट आपको दिया है, वही इसके सहन करने की शक्ति और धैर्य भी प्रदान करे और आपके कष्ट को कम करे !

जामेआ नगर, आपका साथी—

११ मार्च, १९४२ *ज़ाकिर हुसेन।*

---

१. गर्डा फ़िलिप्स बोर्न। यह एक जर्मन महिला थीं, जिन्होंने अपना सारा जीवन जामेआ के बच्चों के लिए अर्पण कर दिया। जिस समय डाक्टर साहब के ये भाषण उर्दू में छपकर तैयार हुए, यह कैंसर की असाध्य और भयंकर बीमारी से विकल होकर इस दुनिया को छोड़ने की तैयारी कर रही थीं—और शायद दो-चार दिन बाद ही चल बसीं !

प्राक्कथन

मेरे होनहार साथी श्री शिवशंकर शर्मा, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में, हिन्दी के अध्यापक हैं, और मेरे बुज़ुर्ग श्री रामस्वरूप शास्त्री के बेटे हैं, जिन्होंने बहुत समय तक इस विश्वविद्यालय की सेवा बड़ी लगन से की और अभी कुछ दिन हुए यहाँ से विश्राम ले चुके हैं; और अपने साथियों और विद्यार्थियों के हृदय में अपनी विद्वत्ता और सद्व्यवहार से घर बना गए हैं। श्री शिवशंकर शर्मा ने मेरे शिक्षा-सम्बन्धी भाषणों का हिन्दी अनुवाद बड़े परिश्रम और बड़े प्रेम से किया है। वे इस पुस्तक के रूप में आपके सामने हैं।

हिन्दी को अगर सचमुच राष्ट्रीय भाषा बनाना है, तो इसमें हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं की पूँजी को ला-लाकर मिलाना होगा, और उर्दू से तो सबसे ज़्यादा। इसलिए कि हिन्दी-उर्दू तो दो जुड़वाँ बहनें हैं। एक का पहनावा दूसरी पर ऐसा ठीक उतरता है कि जैसे आप उसी का हो। मुझे बड़ा हर्ष है कि श्री शिवशंकर शर्मा ने इस काम को अपनाया है, और मुझे आशा है कि ये इससे उर्दू-हिन्दी दोनों की बड़ी सेवा कर सकेंगे। हाँ, इस काम में इनसे जो चूक हुई वह यह कि इन्होंने सबसे पहले मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की ओर ध्यान दिया। प्रेम और व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण कभी-कभी ऐसी ग़लती हो जाती है। अगर बार-बार न की जाएँ, तो ऐसी ग़लतियों से भी जीवन में मधुरता कुछ बढ़ती ही है। सच यह है, कि उर्दू में बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीज़ें हैं, जिन्हें हिन्दी में लाना चाहिए; और मुझे आशा है कि शिवशंकर जी अपनी इस पहली ग़लती को जल्दी ही

पूरी तरह सुधार लेंगे और इनके प्रयत्न से हिन्दी-उर्दू के साहित्य और साहित्यकार एक-दूसरे के निकट आ सकेंगे! यह राष्ट्र की एक बड़ी सेवा होगी!

अलीगढ़ —ज़ाकिर हुसेन
२७-३-'५५

सूची

निवेदन

श्रद्धेय जाकिर साहब के ये अभिभाषण उर्दू की 'तालीमी खुतबात' नामक पुस्तक के अनुवाद हैं। या यों कहें कि यह उर्दू की हिन्दी के लिए एक अनोखी भेंट है। हिन्दी की धज धूप-सी निराली है, और उर्दू की चमक और पॉलिश में चाँदनी की-सी मादकता है। दिन-भर सुनहली धूप से खेलने वाली आँखें चाहती हैं कि चाँदनी की रुपहली शीतल गोद में विश्राम करें। इसी मेल-मिलाप की भावना से प्रेरित होकर उर्दू-शैली के कुछ बेजोड़ नमूने इस संग्रह में प्रस्तुत किये गए हैं। अपने साथियों—पड़ौसियों की विशेषताओं को अपनी अच्छाइयों में जगह देना बड़ी अच्छी बात है। निवेदन यह है कि हिन्दी-उर्दू का परस्पर विनिमय दोनों ही के लिए हितकर है। इस अनुवाद का उद्देश्य भी हिन्दी-उर्दू के किनारों को पुल बाँधकर मिला देने का एक शिशु-प्रयत्न है।

इन भाषणों में शिक्षा की यथार्थता, उसके महत्त्व और उसकी मुख्य समस्याओं का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। मनोविज्ञान के गूढ़ सिद्धान्तों और अनुभवों को मीठी बोली में समझाया है। अध्यापक और मदरसे के चित्र बड़े साफ़ हैं। नन्हें-नन्हें बच्चों के हृदय और मस्तिष्क को जाकिर साहब ने बड़ी सावधानी से पढ़ा है, उनकी तुतलाहट को—झिझक को समझा है, उनकी मौन पुकार को सुना है। कहीं-कहीं लोगों की नासमझी पर आपने शब्दों की महीन मार भी की है।

ये भाषण डॉक्टर साहब की मधुर, स्वाभाविक, सारगर्भित और प्रवाह-पूर्ण व्याख्यान-शैली के सफल प्रतीक हैं। उर्दू से हिन्दी करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि डॉक्टर साहब की अनूठी अभिव्यक्ति

का ज़ोर और प्रभाव बराबर बना रहे। इसीलिए अनेक मूल स्थल ज्यों-के-त्यों जहाँ-तहाँ सजा दिये गए हैं। हिन्दी के बोझिल शब्दों का प्रयोग वहीं हुआ है, जहाँ उर्दू गहरा गई है। अनुवाद का काम बड़ा कठिन काम है, जो हर किसी के बस का नहीं—फिर अपनी तो बात क्या?

मैं निवेदन के अन्तिम शब्दों में यह प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ कि प्रो० रशीद अहमद सिद्दीक़ी साहब से मुझे इस पुस्तक के तैयार करने में बड़ा प्रोत्साहन मिला है। इन्होंने मुझे दुआएँ भी दी हैं और सहारा भी! साथ ही अपने आदरणीय बन्धु डॉ० मसूद हुसेन साहब का मैं हृदय से आभारी हूँ कि आपने लगभग दो माह तक मेरे साथ लगकर काम किया है, इस काम को पूरा किया है। यदि ये अनुवाद सर्वप्रिय बन सके और सफल हुए, तो उसका श्रेय आपको होगा।

आशा है, कि हिन्दी-जगत् इस पुस्तक का उचित मूल्यांकन करेगा और इस दिशा में अवश्य ही उर्दू-हिन्दी प्रेमियों के नए क़दम उठेंगे!

श्रावण
१६-७-'५४

अनुवादक—
शिवशंकर शर्मा

राष्ट्रीय शिक्षा

मैं किस तरह आपको धन्यवाद दूँ कि आपने मुझे इस जलसे में बुलाकर और भाषण देने की अनुमति प्रदान कर मेरा बड़ा सम्मान किया है। मेरा काम मुझे बराबर विद्यार्थियों के साथ रखता है, इसलिए अपने विद्यार्थी-जीवन और आजकल के जीवन में मुझे कोई अन्तर मालूम नहीं होता। मैं अपने को आज भी उसी तरह विद्यार्थी समझता हूँ, जैसा कि आज से पन्द्रह-बीस साल पहले समझता था, इसलिए जब मुझे आपके कुलपति महोदय, हम सबके बुजुर्ग, आदरणीय डॉ० भगवानदास जी का तार मिला कि "तुम काशी विद्यापीठ के कन्वोकेशन के जलसे में आकर कुछ कहो" तो मुझे बहुत ही अचम्भा हुआ—ऐसा अचम्भा जैसा कि आपके किसी छोटी अवस्था के विद्यार्थी को यह तार पाकर हो कि तुम आकर 'जामिआ मिल्लिआ' के दीक्षान्त समारोह पर कोई विशेष भाषण दो। इसीलिए मैंने जवाब में भी ज़रा देर की और मैंने पहले यही सोचा कि श्रद्धेय डॉक्टर साहब से क्षमा माँगूँ, और यह लिखूँ कि शायद आपने तार में ग़लत आदमी का पता लिख दिया है। लेकिन मैंने फिर सोचा कि शायद इस बुलावे में एक और बात छिपी है, यानी यह कि 'जामिआ मिल्लिआ' में मेरे साथी राष्ट्रीय शिक्षा का जो काम बड़ी कठिन परिस्थितियों में कर रहे हैं, उसमें काशी विद्यापीठ के भाई और साथी, जो स्वयं एक ऐसे ही काम में लगे हुए हैं, हमारी हिम्मत बढ़ाना और उस पर अपनी सहमति प्रकट करना चाहते हैं। मैं स्वयं व्यक्तिगत-रूप से तो क्षमा माँग लेता, परन्तु मेरे हृदय में आपके कार्य और आपके कार्यकर्त्ताओं के लिए जो आदर है, उसने मुझे बाध्य कर दिया कि इस निमन्त्रण को स्वीकार करके

प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त करूँ। यही कारण है कि मैं इस समय आपके सामने उपस्थित हूँ।

आज से कोई पन्द्रह साल पहले जब इस विद्यापीठ की नींव रखी गई थी, तो वह ज़माना हमारे राष्ट्र के लिए बड़ी बेचैनी का ज़माना था। उस बेचैनी का सिलसिला अब तक किसी-न-किसी शक्ल में जारी है, जो कभी उभर आती है, कभी दब जाती है। इस बेचैनी ने हमारे राष्ट्र में बड़ी जाग्रति पैदा की है और राष्ट्रीय जीवन के अनेक विभागों ने इससे बहुत-कुछ लाभ उठाया है। परन्तु मैं समझता हूँ कि जब इस जाग्रति का इतिहास लिखा जायगा, तो इस युग में राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हमारे राष्ट्र के जीवन के लिए शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जायगी। जिस तरह सख्त बीमारी की हालत में शरीर अपने रोग को दूर करने के लिए प्राकृतिक रूप से कुछ-न-कुछ करता है और इसमें सोच-विचार का अधिक महत्त्व नहीं रहता; उसी तरह हमारे राष्ट्र ने भी राष्ट्रीय शिक्षा के मामले को कुछ बहुत ज़्यादा सोचा तो न था, लेकिन जब दुःख बढ़ा तो उसने इसके निवारण के लिए और उपायों के साथ आप-ही-आप यह उपाय भी किया कि राष्ट्रीय शिक्षा की कुछ व्यवस्था करे। जब बीमार बहुत कमज़ोर हो जाता है, तो बीमारी को दूर करने की कोशिशें भी कमज़ोर ही होती हैं। हमारी दूसरी कोशिशों की तरह यह राष्ट्रीय शिक्षा की कोशिश भी बहुत कमज़ोर कोशिश है, बल्कि हमारे राष्ट्र में ही अच्छे समझदार आदमियों का काफ़ी बड़ा गिरोह है, जो इस कोशिश की कोई ज़रूरत ही नहीं समझता और इसके फ़ायदों से बिलकुल बेख़बर है।

ये लोग प्रायः वे हैं जो अंग्रेजी पढ़-लिख लेने या कोई हुनर (कला) सीख लेने का नाम शिक्षा जानते हैं, और सोचते हैं कि हर शख्स अपनी-अपनी आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार जो और जितना लिखना-पढ़ना चाहता है, और जो और जितना सीखना चाहता है, लिख-पढ़ लेता और सीख लेता है। अगर इन लोगों के विचारों की तह तक पहुँचने की कोशिश कीजिए, तो पता चलता है कि इनकी दृष्टि में गिरोह या जमात या समाज

अपनी जगह पर कोई चीज़ नहीं, अलग-अलग आदमियों के मिलने से बन जाता है, जैसे पत्थरों का कोई ढेर कि जिसमें असली चीज़ तो अलग-अलग पत्थर हैं, एक जगह होने से ढेर बन गया है। समाज में भी, इनके विचार से, केवल अकेला आदमी ही असली और पहली चीज़ है। समाज बस अकेलों के मिल जाने का नाम है और मानसिक जीवन का मूल स्रोत व्यक्ति या अकेला आदमी ही है, वही सोचता है, वही समझता है, वही सब मानसिक वस्तुएँ पैदा करता है; और सिवाय इसके कि जीवन को सुगम बनाने के लिए दूसरों से कुछ मदद ले ले या उनकी कुछ मदद कर दे—विचारों और बुद्धि की दृष्टि से वह अपनी दुनियाँ आप है। हमारे शिक्षित लोग प्रजातन्त्र के फ़लसफ़े को पढ़-पढ़कर और हरकुलीस, प्रामेथियस और राबिन्सन के नामों और कामों और जीवन-चरित से प्रभावित होकर अकेले आदमी को सामाजिक जीवन की असलियत और समाज को उन अकेलों का बस एक ढेर या समुदाय मानते हैं।

लेकिन इसके विपरीत एक दूसरा मत भी है, और मेरे विचार से वही ज़्यादा ठीक भी है, यानी यह कि असली चीज़ और पहली चीज़ समाज है, और अकेला आदमी इसी के सहारे और इसी के लिए हो सकता है, और होता है। समाज की स्थिति शरीर जैसी है, और अकेला आदमी या छोटे-छोटे समाजी गिरोह इस शरीर के अंग होते हैं। शरीर के अंगों का शरीर से और पत्थरों के ढेर का पत्थरों से जो सम्बन्ध है, उसका अन्तर स्पष्ट है। इस मत के अनुसार मैं समझता हूँ कि मानसिक जीवन तो बिना समाज के सम्भव ही नहीं। अकेला आदमी जानवर की तरह समझ में आ सकता है, मगर पूरे इन्सान के रूप में—जिसकी अपनी सहज विशेषता बुद्धि-विवेक है—उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानसिक जीवन तो किसी मानसिक जीवन ही से पैदा होता है। यह दीपक हमेशा किसी दूसरे दीपक ही से जलाया जा सकता है। मानसिक जीवन में 'तू' न हो तो 'मैं' का अस्तित्व भी न हो। इसलिए मानसिक जीवन के लिए, जो सचमुच इन्सानी जीवन है, समाज का अस्तित्व अनिवार्य है। शरीर में हरेक अंग का कुछ

अलग-अलग महत्त्व भी जरूर होता है, मगर इतना ही कि वह कुल शरीर से सम्बन्ध रखता है, और उसके अन्दर अपना ठीक काम कर रहा है। एक अंग के कट जाने से शरीर में कमी आ जाती है, मगर वह बाक़ी रह सकता है। मगर अंग शरीर से अलग होकर बाक़ी भी नहीं रह सकता। पेड़ में हर डाली और पत्ती भी अपना अलग अस्तित्व रखती है, लेकिन डाली या पत्ती के टूट जाने से पेड़ ख़त्म नहीं होता, पेड़ से अलग होकर डाली और पत्ती के लिए सिवाय मिटने के और कुछ नहीं।

जिस तरह कुछ समय बाद शरीर का एक-एक कण बदल जाता है, मगर उसमें जीवन बराबर बना रहता है, जिस तरह पेड़ों की पत्तियाँ बदल जाती हैं, मगर पेड़ वही रहता है—उसी तरह समाज के अनेक व्यक्ति भी—अंग भी बराबर क्षीण होते रहते हैं, मगर समाज का जीवन बाक़ी रहता है। हर चेतन पदार्थ की भाँति समाज में भी दो काम बराबर होते रहते हैं—एक तो बदलते रहने का और दूसरा अपनी स्थिति में बने रहने का। इनमें से कोई एक काम भी रुक जाय, तो मौत का सामना होता है। जो जिस्म या पदार्थ अपने को क़ायम नहीं रख सकता, वह तो ख़त्म होता ही है, पर जिसमें अपने को बदलते रहने की शक्ति न रहे, वह भी मौत के घाट उतरता है। समाज में व्यक्तियों के अस्तित्व का उद्देश्य बस यह है कि वे इस उत्पत्ति-विनाश, आत्मरक्षा और परिवर्तन, स्थिति और प्रमाण का साधन बनें। और उन्हें इस योग्य बनाने के लिए समाज का प्रयत्न और उसका कर्त्तव्य नई पीढ़ियों की शिक्षा है। शिक्षा वास्तव में किसी समाज की जानी-बूझी, सोची-समझी कोशिश का नाम है, जो वह इसलिए करता है कि उसका अस्तित्व बाक़ी रह सके और उसके व्यक्तियों में इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो कि वे बदली हुई परिस्थितियों के साथ समाज के जीवन में भी उचित और आवश्यक परिवर्त्तन कर सकें। राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा इसी प्रकार अतीत से वर्त्तमान को जोड़ देती है, जैसे एक आदमी के जीवन में उसकी स्मरण-शक्ति। जो समाज अपनी शिक्षा का प्रबन्ध ठीक नहीं रखता, वह अपने अस्तित्व को खतरे में डालता है, और जिस तरह स्मरण-शक्ति

के नष्ट हो जाने से व्यक्ति के जीवन का सिलसिला बाक़ी नहीं रहता, उसी तरह राष्ट्रीय शिक्षा न होने से राष्ट्रीय जीवन का सिलसिला ख़त्म हो जाता है। अगर विश्व-समाज में भारतीय समाज को अपनी अलग स्थिति सुरक्षित रखनी है; और दूसरे समाजों की अपेक्षा उसके पास कुछ है, जो उसे दूसरों से अलग करता है, और वह इतना सशक्त है कि बाक़ी रहे और विश्व-भर का जीवन उससे समृद्ध हो, तो हमारे समाज का कर्त्तव्य है कि अपनी शिक्षा में उन ख़ास चीज़ों का ध्यान रखे, जिन्हें वह ख़ास अपनी समझता है; या अपने अतीत को अपनी आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करे, इसलिए कि केवल किताबों में लिखे रहने से हमारा इतिहास जीवित नहीं रह सकता। इसको जीवित रखने का बस एक उपाय है कि यह समाज के हरेक व्यक्ति के दिल और दिमाग़ के रेशे-रेशे में जीवित हो।

परन्तु प्रगतिशील विचारों के बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो कहेंगे कि ये सब प्राचीनता के रंग में रँगी हुई रूढ़िवादी बातें हैं। राष्ट्र की प्राचीन परम्पराएँ तो प्रायः इसकी राह में रुकावटें ही होती हैं, और अतीत का बोझ गर्दन पर उठाकर राष्ट्र के लिए आगे चलना कठिन हो जाता है। अतः इन भ्रान्तियों से मुक्त होना चाहिए, और आज की जरूरतों का ध्यान करके और आने वाली जरूरतों को सामने रखकर अपनी नई नस्लों को सिखाना-पढ़ाना चाहिए। बस, यही राष्ट्रीय शिक्षा है और बाक़ी सब ढकोसले हैं। ऐसी बातें वे लोग भी करते हैं, जो दिल से राष्ट्र की भलाई चाहते हैं, और जिनके दिल में इस बात की लगन है कि उनका राष्ट्र बहुत शीघ्र उन्नति करे और जितनी तेजी से आगे बढ़ सकता है, बढ़े! यानी स्वयं राष्ट्र के निमित्त वे राष्ट्रीय शिक्षा के उस मत को पसन्द नहीं करते, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। मैं इन लोगों की सद्भावना पर तनिक भी सन्देह नहीं करता। मगर मेरा अनुमान है कि ये शिक्षा के मूलतत्त्व को नहीं पहचानते, वर्ना शायद ऐसी बात न कहते। शिक्षा बस कुछ बोल रट लेने या चन्द बातें जान लेने का नाम तो नहीं है, बल्कि शिक्षा उसे कहते हैं, कि आदमी जो दिमाग़ी शक्तियाँ लेकर पैदा हुआ है, उनका वह यथासम्भव

विकास करे। शिक्षा तो मानव-मस्तिष्क के पूर्ण परिपोषण का नाम है। जिस तरह आदमी का शरीर एक छोटे-से बीज से शुरू होता है, फिर उपयुक्त भोजन मिलने से, क्रियाशीलता से, सुख-शान्ति से, तिब्बियात और कीमिया के नियमों के अनुसार चलकर अद्भुत उन्नति कर लेता है; उसी तरह मस्तिष्क का निर्माण और विकास उपयुक्त मानसिक पोषण पाकर और उसके नियमों के अनुसार ही होता है। देखना यह चाहिए कि मस्तिष्क को यह पोषण किन चीज़ों से मिल सकता है, और उसके प्रभाव के नियम क्या हैं? तो निवेदन यह है कि मानसिक पोषण मिलता है संस्कृति (तमद्दुन) से, संस्कृति की भौतिक और अभौतिक वस्तुओं से, उदाहरणतः समाज की शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था से, समाज की कलाओं से, समाज के धैर्य से, समाज के उद्योग-धन्धे से, सामाजिक चरित्र के सिद्धान्तों से, समाज के क़ानून से, समाज की परम्पराओं से, समाज के महापुरुषों के जीवन से, समाज के पारिवारिक जीवन के आदर्शों से, समाज के गाँवों-कस्बों से, समाज के नगरों के जीवन से, समाज के शासन-विधान से, फ़ौज से, कचहरियों से और समाज के मदरसों से।

अब यह बात याद रखने की है कि समाज की सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ मनुष्य के मस्तिष्क की ही सम्पत्ति होती हैं। आदमी का मस्तिष्क अपने को इन वस्तुओं में व्यक्त करता है, या यों कहिए कि मस्तिष्क अपने को अपने से बाहर ये रूप देता है। इन चीज़ों में उस व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क का प्रभाव भी होता है, जिसने उन्हें बनाया, उस राष्ट्र या नस्ल का प्रभाव भी होता है जिससे कि बनाने वाले का सम्बन्ध था। उस देश-काल की परिस्थितियों का प्रभाव भी होता है, जिनमें कि उसने यह चीज़ बनाई थी। उन सबका प्रभाव यों कहिए कि चीज़ में आकर छिप रहता है—सो जाता है। कोई नया मस्तिष्क जब उनका आत्मीकरण कर लेता है, तो ये छिपी हुई शक्तियाँ उभरती हैं—सोती हुई क्षमताएँ जगती हैं। सांस्कृतिक वस्तुओं की इन सोई हुई शक्तियों को फिर से किसी आदमी के मस्तिष्क में जगाने से उस मस्तिष्क का विकास होता है, और किसी चीज़ से

मस्तिष्क का विकास बस उतना ही समझना चाहिए जितनी उसकी सोई हुई शक्तियाँ ग्रहण करने वाले के मस्तिष्क में जगी हैं। जैसे अच्छे-से-अच्छे पद्य को कोई रटे जाय—मस्तिष्क का कोई विकास न होगा, अगर पढ़ने वाले के मस्तिष्क में पूरी तरह या कुछ-न-कुछ वे अनुभूतियाँ उत्पन्न न हों, जो कहने वाले में थीं, और जिन्हें उसने अपनी उक्ति में मानों लाकर छिपाया था—सुलाया था। कोई व्यक्ति अगर दूसरों के धार्मिक जीवन का हाल उम्र-भर पढ़ता या सुनता रहे, लेकिन उसके मस्तिष्क में उस वृत्तान्त से धर्म की सच्ची अनुभूति जागृत न हो, तो उम्र-भर का सम्बन्ध होने पर भी उसके मस्तिष्क का उस धार्मिक चर्चा से कोई विकास न होगा, और यही बात और दूसरी सांस्कृतिक वस्तुओं के बारे में भी है।

शिक्षा के काम से सम्बन्ध रखने वाले हर व्यक्ति को मालूम है कि हरेक मस्तिष्क का विकास संस्कृति की हर वस्तु से नहीं होता। जिस तरह हरेक शरीर को एक-सा भोजन नहीं भाता, उससे कहीं अधिक हर मस्तिष्क को हरेक मानसिक पोषण अनुकूल नहीं पड़ता। बच्चा जिस समाज में पैदा होता है, उसकी संस्कृति से उसकी नस्ल का सम्बन्ध होने के कारण ही उसके मस्तिष्क में कुछ समरसता उत्पन्न हो जाती है, और इसलिए स्वयं अपने समाज की संस्कृति की वस्तुओं से उसके मस्तिष्क का और अधिक विकास हो सकता है। शिक्षा-विकास पा जाने तथा उन्नति कर चुकने के बाद मस्तिष्क दूसरे समाजों की चीजों को भी अपना सकता है, और उनसे भी पूरा लाभ उठा सकता है। मगर शुरू में अपनी पैतृक समरसता (मौरूसी मुनासबत) के कारण एक प्रकार से बड़ी आसानी और दूसरे से बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए हर वह व्यक्ति जो शिक्षा के मूल तत्त्व को समझता है, इस बात पर मजबूर है कि मस्तिष्क के शिक्षा-विकास के लिए अधिकतर उस समाज की ही सांस्कृतिक वस्तुओं से काम ले जिससे विद्यार्थी का सम्बन्ध है, वर्ना उसके प्रयत्न के निष्फल होने का डर है। नतीजा यह निकला कि स्वयं शिक्षा का मूल तत्त्व हमें मजबूर करता है कि हम राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था करें।"

इसलिए यद्यपि हमारे ही राष्ट्र के बहुत से समझदार लोग अभी इस बात को सही नहीं मानते, हमें ख़ुश होना चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा की कुछ संस्थाएँ देश में स्थापित हो चुकी हैं। इन संस्थाओं का, जिनमें आपके विद्यापीठ का बड़ा महत्त्व है, यही उद्देश्य नहीं कि वे उन विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध कर दें जो इनमें पढ़ने आते हैं, या कुछ सामान्य ज्ञान की और कुछ विशेष ज्ञानप्रद पुस्तकें प्रकाशित कर दें, बल्कि साधनों की कमी और काम की कठिनाइयों के होने पर भी, जिन्हें मैं ख़ूब समझता हूँ, इन संस्थाओं का प्रमुख कर्त्तव्य यह भी है कि इनके काम करने वाले और इनके अध्यापक अपने देश की राष्ट्रीय शिक्षा की एक पूरी योजना बनाएँ। मैं जानता हूँ कि यह योजना अभी बहुत-कुछ कल्पित होगी और इसे व्यवहार में लाने का अभी अवसर भी नहीं है। मगर व्यवहार में लाने के अवसर कहकर नहीं आते। फिर जब आते हैं तो ऐसी परिस्थितियों में आते हैं कि सोचने-समझने का मौक़ा नहीं होता और वक्त-के-वक्त जो बन पड़ता है, कर लिया जाता है। और इसमें अक्सर बड़ी ग़लतियाँ हो जाती हैं, जिसका नुक़सान सदियों तक जारी रहता है। इस कर्त्तव्य का अभी से पालन करने की ज़रूरत इसलिए और भी है कि हमारे देश में राजनीतिक ही नहीं वरन् विद्या और शिक्षा-सम्बन्धी समुदायों ने भी राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया है। इसके विषय में कुछ कहा है, तो बस यही कि वर्तमान व्यवस्था बहुत बुरी है, और इसमें जिन सुधारों का प्रस्ताव किया है वे प्रायः बिलकुल अधूरे हैं, इसलिए कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था में बस इतने परिवर्तन से काम नहीं चलेगा कि इसमें देश-भाषा के लिए कोई अच्छी जगह निकल आए और इतिहास की पुस्तकें बदल दी जायँ। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न बड़ा पेचीदा है, उदाहरण के लिए, रहने-सहने के तरीक़े अलग हैं, आदतें और रस्में भी एक-सी नहीं हैं, धर्म भी भिन्न हैं। राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था करने वालों को सोचना होगा कि वे इस व्यवस्था की व्यापक समानता के लिए और संगठित राष्ट्र बनाने की लगन में इन भेद-भावों को पीठ पीछे डाल दें। या हर सूबे या हर समुदाय

को, जिसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति इतनी है कि वह अपने व्यक्तियों के मानसिक विकास का साधन बन सके, इस बात का मौक़ा दिया जाय कि वह अपनी सांस्कृतिक वस्तुओं से शिक्षा का काम ले और अपनी शिक्षा से अपनी संस्कृति की उन्नति के लिए राहें निकाले। अगर आपके विचार से शिक्षा का वह दृष्टिकोण ठीक है, जिसका ज़िक्र मैंने अभी किया है, तो शायद अपने नागरिकों के उन भिन्न-भिन्न समुदायों को अपनी-अपनी संस्कृति से शिक्षा-सम्बन्धी काम लेने का अवसर देना राजनीतिक निपुणता का उद्देश्य ही न समझा जायगा, बल्कि उचित शिक्षा का लक्ष्य भी माना जायगा।"

उदाहरण के लिए, आप हिन्दुस्तान के मुसलमानों की शिक्षा के प्रश्नों ही को ले लीजिए। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था इन मुसलमानों को इस बात का मौक़ा देगी या नहीं कि वे अपने सांस्कृतिक जीवन को अपनी शिक्षा का साधन बनाएँ? आप जानते हैं कि यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है। सम्भव है कि कुछ नेक-नीयत, मगर कट्टर राष्ट्रभक्त, संगठित हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता का ऐसा रूप अपने मस्तिष्क में बना चुके हों, जिसके अनुसार मुसलमानों को यह अधिकार देना राष्ट्र की शक्ति और राष्ट्र की उन्नति के लिए हानिकर होगा। मगर हमारे शिक्षा-विशेषज्ञ अगर नेकनीयती से हिन्दुस्तान की शिक्षा का प्रबन्ध करें, तो मुझे यक़ीन है, कि वे मुसलमानों की इस आकांक्षा को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे कि वे अपनी शिक्षा की नींव अपनी संस्कृति पर रखें, क्योंकि उचित शिक्षा और सही राजनीति दोनों का यही उद्देश्य है। आप मुझे क्षमा करें, अगर इस सभ्य समाज के सामने मैं सफ़ाई से यह बात पेश करूँ कि मुसलमानों को जो चीज़ एक संगठित हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता से बार-बार अलग खींचती है, उसमें जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थपरता, संकीर्ण विचार-दृष्टि और देश के भविष्य का यथार्थ रूप निर्धारित न कर सकने का कारण है, वहाँ यह भयंकर सन्देह भी है कि राष्ट्रीय शासन के अन्तर्गत मुसलमानों की सांस्कृतिक सत्ता नष्ट हो जायगी, और मुसलमान किसी तरह यह क़ीमत चुकाने पर राज़ी नहीं; और मैं एक मुसलमान होने के नाते ही

नहीं, सच्चे हिन्दुस्तानी होने के नाते भी, इस पर खुश हूँ कि मुसलमान इस क़ीमत के चुकाने पर तैयार नहीं, इसलिए कि इससे मुसलमानों की जो हानि होगी सो होगी ही, खुद हिन्दुस्तान की संस्कृति भी अवनत होकर कहीं-से-कहीं पहुँच जाएगी, कि—

"गरचे मिस्ले गु़ंचा दिलगीरेम मा ।
गुलिस्ताँ रसीद अगर मीरेम मा ॥"

(माना कि मेरा दिल कली की तरह उदास या मुरझाया हुआ है, लेकिन सच यह है कि मैं मर जाऊँ तो बाग़ मर जाए !)

यही कारण है, कि सच्चे हिन्दुस्तानी मुसलमान अपनी धार्मिक परम्पराओं, अपने इतिहास, अपनी सांस्कृतिक सेवाओं और अपनी संस्कृति से, अपनी आशाओं के कारण अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को अपने लिए ही अमूल्य नहीं समझते, बल्कि हिन्दुस्तानी राष्ट्र के लिए भी अमूल्य समझते हैं; और उसके मिटाए जाने या कमज़ोर किए जाने को अपने प्रति अत्याचार ही नहीं समझते, बल्कि वे हिन्दुस्तानी राष्ट्र के साथ भी बड़ी घनिष्टता का अनुभव करते हैं। हिन्दुस्तानी मुसलमानों को अपना देश किसी और से कम प्यारा नहीं है ! वे हिन्दुस्तानी राष्ट्र का एक अंग होने पर गर्व करते हैं, मगर वे ऐसा अंग बनना कभी सहन न करेंगे, जिसमें उनकी अपनी स्थिति बिलकुल मिट चुकी हो। उनका हौसला है, कि अच्छे मुसलमान हों और अच्छे हिन्दुस्तानी, और न कोई मुसलमान उन्हें हिन्दुस्तानी होने पर शरमाए, न कोई हिन्दुस्तानी उनके मुसलमान होने पर उँगली उठाए। हिन्दुस्तान में उनका धर्म देश से उनके सम्बन्ध-विच्छेद का कारण न हो, बल्कि वह सेवा का दायित्व उन पर डाले; उनके लिए पातक न बने, बल्कि प्रतिष्ठा। इस धारणा का नतीजा यह होगा कि जब मुसलमान राजनीति के मैदान में दूसरी तमाम हिन्दुस्तानी जनता के बिलकुल साथ-साथ होंगे, पृथक् (Separate electorate) और संयुक्त (Joint electorate) निर्वाचन के झगड़े-टण्टे भी भुलाए जा चुके होंगे, और सम्भवतः नौकरियाँ प्राप्त करने में भी मुसलमान एक स्वाभिमानी समुदाय की भाँति सुरक्षित (Reserved) पदों

पर ही पहुँचने की अपेक्षा प्रतियोगिता के लिए ही आग्रह करते होंगे—उस समय भी वे यह जरूर चाहेंगे कि उनकी शिक्षा-प्रणाली में सांस्कृतिक वस्तुओं के लिए पूर्ण स्थान हो। और मुझे विश्वास है, कि हिन्दुस्तान की विवेकपूर्ण भावी सरकार मुसलमानों की इस माँग को पूरा करके उनकी उन्नति और उनकी उन्नति से अपनी ही मजबूती का सामान करेगी!

बात कुछ दूर जा पड़ी। मैं निवेदन कर रहा था कि हमारे शिक्षा-विशेषज्ञों को देश के धार्मिक और भौगोलिक समुदायों की अलग-अलग या बिलकुल एक-सी व्यवस्था के सम्बन्ध में ध्यान देना चाहिए। लेकिन अगर उनका निर्णय यही हो, जिसकी ओर मैंने इशारा किया है, तो एक मुश्किल सवाल का हल उन्हें सोचना पड़ेगा। यानी इस तरह अंग-अंग को सांस्कृतिक स्वतन्त्रता देकर वे एक संगठित राष्ट्र और उसके राज्य को कमजोर तो नहीं कर देंगे? इसलिए कि अगर 'अंग-अंग' की उस स्वतन्त्रता के साथ और 'कुल' के साथ स्नेह और सहानुभूति का एक प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित न हुआ, तो निस्सन्देह वह स्वतन्त्रता कुल राष्ट्र की कमजोरी और कभी-कभी उसके ह्रास का कारण भी हो सकती है। इसलिए हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था को उस केन्द्रीय विचार का समर्थन करना होगा, जिसके अनुसार व्यक्तियों के मानसिक विकास और व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने का यही उपाय है कि वे अपने को अपने समाज की संस्कृति से विकसित करें और उसकी सेवा को अपनी उन्नति का साधन समझें। इस तरह हमारे बड़े हिन्दुस्तानी समाज में जो समुदाय और छोटे समूह हैं, उनमें भी यह विश्वास बहुत दृढ़ होना चाहिए कि वे भी समुदाय के रूप में तभी पूर्ण उन्नति कर सकते हैं, जब कि बड़े समाज का अपने को सेवक समझें, उसकी भलाई में अपनी भलाई और उसकी बुराई में अपनी बुराई देखें। इस विश्वास को पैदा करना अगर राजनीतिक व्यवस्था की विलक्षणता पर निर्भर है, तो यह शिक्षा की व्यवस्था पर भी बहुत-कुछ आधारित है।

और यही क्या, ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े मनीषियों को ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, अगर

हमारी शिक्षा-व्यवस्था हमारे हाथ में हो, तो उस समय भी क्या मदरसे किताबें पढ़ा देने के लिए खुला करेंगे और उनका उद्देश्य भी स्वस्थ, अच्छे, और सच्चे आदमी पैदा करने की जगह चलते-फिरते किताबघर पैदा करना होगा ? क्या उस समय भी बच्चों की सहज क्षमताओं पर ध्यान दिये बिना ही सबको एक ही लकड़ी से हाँका जाया करेगा, और इस तरह राष्ट्र की मानसिक शक्ति को, जो कि इसकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है, बरबाद किया जायगा ? या भिन्न-भिन्न क्षमताओं के बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के मदरसे होंगे, जिनमें प्रारम्भिक शिक्षा के बाद बच्चे भेजे जा सकेंगे और अपनी विशेष मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार ही शिक्षा प्राप्त करेंगे ? क्या उस वक्त भी मदरसे और राष्ट्र के जीवन में इतना ही थोड़ा सम्बन्ध होगा, जैसा कि अब है, या बचपन ही से ऐसे मौके मिला करेंगे जिनसे हर हिन्दुस्तानी के दिल में यह बात बैठ जाए कि राष्ट्र की सेवा करके ही वह अपनी उन्नति की राह निकाल सकता है ? क्या उस वक्त भी हमारे मदरसे स्वार्थ और व्यक्तिगत स्पर्धा ही के व्यवहार का पाठ पढ़ाया करेंगे और दूसरों की सेवा और सहायता के मौके उनमें नापैद होंगे ? क्या उस वक्त भी मदरसों को इसी बात से सरोकार होगा कि बस विद्या-दान कर दिया, लेकिन विद्या के उपयोग करने और शील पर उसका प्रभाव डालने की कोई व्यवस्था न होगी ? क्या उस समय भी हमारा पाठ्यक्रम ऐसा ही चूँ-चूँ का मुरब्बा होगा जैसा कि अब है ? यानी क्या उस वक्त भी हर चीज को विषय (Subject) का रूप देकर और पाठ्यक्रम में शामिल करके बच्चों के लिए मुसीबत और उसकी शिक्षा को सारहीन बनाने का सामान किया जायगा, या एक या थोड़ी-सी चीजों में से उसे अच्छी तरह निपुण बनाकर उसमें ऐसी योग्यता पैदा की जायगी कि जिससे वह दूसरी चीजों को जरूरत के वक्त खुद हासिल कर सके ? क्या उस वक्त भी व्यावसायिक और सामान्य शिक्षा (Vocational and General Education) को बिलकुल अलग-अलग रखा जायगा, या व्यवसाय की शिक्षा (Vocational Education) का ऐसा प्रबन्ध हो सकेगा, कि वही आम शिक्षा की मजबूत बुनियाद साबित

हो ! इसका मतलब यह है कि और इन जैसी अनेक समस्याएँ हैं, जिनकी चर्चा करके मैं आपका समय नष्ट नहीं करना चाहता। इतना भी केवल इसलिए कह दिया कि यहाँ एक बड़े राष्ट्रीय विद्यापीठ के कार्यकर्त्ता जमा हैं। इनका ध्यान इस ओर आकर्षित करने से शायद हमारे शिक्षा-कार्य करने वाले महानुभाव इन समस्याओं पर ध्यान दें, और अपनी जाँच के नतीजों को राष्ट्रीय शिक्षा की किसी एक संस्था को लक्ष्य करके प्रकट कर सकें; ताकि होते-होते सबके सोच-विचार से राष्ट्रीय शिक्षा का एक सही प्रोग्राम तो तैयार हो जाए। और अगर सारी योजना ही को प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण कार्यान्वित न किया जा सके, तो कम-से-कम प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या को सुलझाने के बाद आदर्श मदरसे खोले जाएँ और कम-से-कम शिक्षा के इस भूल उद्देश्य को म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के ही द्वारा पूरा करने का उपाय किया जाय।

कुलपति महोदय ! मैंने आपके निमन्त्रण और इस उत्सव से लाभ उठाकर कुछ शिक्षा विषयक प्रश्नों की चर्चा कर दी कि शायद इससे उस खोज के लिए दरवाजा खुले, जिसके सम्बन्ध में मैंने निवेदन किया है। लेकिन मुझे यक़ीन नहीं कि मैंने यह ठीक भी किया या नहीं। इस समय तो मुझसे यह आशा होगी कि मैं उन नौजवानों से कुछ कहूँगा, जो आपके विद्यापीठ से शिक्षा समाप्त करके जा रहे हैं। अब आपकी अनुमति लेकर इन विद्यार्थियों से कुछ कहना चाहता हूँ।

प्यारे विद्यार्थियो ! तुम विद्या के इस नगर काशी से यहाँ के इस विख्यात विद्यापीठ में अच्छे-अच्छे और सुयोग्य अध्यापकों से शिक्षा पाकर अब दुनिया में क़दम रखते हो। मुझे मालूम नहीं कि इस दुनियाँ में, जो विद्यापीठ से बहुत ज़्यादा सख्त और बेरहम जगह है, तुम क्या करना चाहते हो। हो सकता है, कि तुम्हारा हौसला हो कि तिजारत और कारोबार, या नौकरी करके बहुत-सी धन-दौलत कमाएँ और चैन से अपनी और अपने खानदान की ज़िन्दगी बिताने का सामान करें। अगर ऐसा है, तो परमात्मा तुम्हारे मनोरथ को सफल करे ! मगर मुझे तुमसे फिर कुछ बहुत कहना

नहीं है। तुम अपनी सफलता के लिए खुद राहें ढूँढ़ निकालोगे। अगर ठीक रास्ते पर पड़े, तो ज़्यादातर अपना फ़ायदा करोगे; अगर ग़लत रास्ते पर पड़े, तो सज़ा भुगतोगे। मगर दूसरों का कुछ बहुत नुक़सान न होगा। लेकिन, चाहे तुम धन-दौलत की फ़िक्र ही में लग जाओ, कम-से-कम काशी-विद्यापीठ के स्नातक होकर तुम कभी अपने राष्ट्र की राह में रोड़ा न बनना। अपनी सफलता के लिए बहुतेरे लोग राष्ट्र का अहित करने से भी नहीं चूकते। तुम इसका ध्यान रखना कि सफलता के लिए यह जरूरी नहीं है कि अपने कर्त्तव्यों को त्याग कर और अपनी सारी बड़ी इच्छाओं को पैरों तले रौंदकर ही उस तक पहुँचा जाय। जो अपने स्वार्थ के लिए इतना अन्धा हो जाय कि अपने देश और अपने राष्ट्र को हानि पहुँचाने से भी न चूके, वह आदमी नहीं, जानवर है!

अगर काशी विद्यापीठ के स्नातक होने के नाते तुम अपना जीवन देश की सेवा में लगाना चाहते हो, तो मुझे तुम से बहुत-कुछ कहना है।

तुम जिस देश में यहाँ से निकलकर जा रहे हो, वह बड़ा अभागा देश है। वह ग़ुलामों का देश है, अनपढ़ों का देश है, अन्याय का देश है, कठोरताओं का देश है, क्रूर परम्पराओं का देश है, अविवेकी पुजारियों का देश है, भाई-भाईमें नफ़रत का देश है, बीमारियों का देश है, सस्ती मौत का देश है, ग़रीबी और अँधेरे का देश है, भूख और मुसीबत का देश है, यानी बड़ा कम्बख़्त देश है! लेकिन क्या कीजिए? तुम्हारा और हमारा देश है! इसी में जीना है, और इसी में मरना है। इसलिए यह देश तुम्हारी हिम्मत के इम्तिहान, तुम्हारी शक्तियों के प्रयोग और तुम्हारे प्रेम की परख की जगह है।

अपने चारों तरफ़ इतनी बरबादी, इतनी मुसीबत, इतना ज़ुल्म देखकर तुम अधीर होकर यह चाहो, जैसे बहुत-से नौजवान चाहने लगते हैं, कि इसमें बसने वाले समाज ही को ख़त्म कर डालें और मिटा डालें, इसलिए कि इसमें सुधार की कोई सूरत नहीं। तुम्हें अधिकार है! मगर अपने एक भाई की राय सुन लेने में भी क्या नुक़सान है। लो, मेरा विचार यह है

कि बरबाद करने से हमारा काम कुछ सहल नहीं होगा, बरबादी तो पहले ही से काफ़ी मौजूद है। राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कौन-सा विभाग है, जिस पर पहले से ही विपत्ति या विनाश की गहरी छाया नहीं। लेकिन हमारी अनेक बीमारियों और अनगिनत मुसीबतों में से ऐसी बहुत कम हैं कि हम यकायक आवेश में आकर थोड़ी-सी देर में उन्हें ख़त्म कर डालें। मैं समझता हूँ, कि हमें बिगाड़ना इतना नहीं है, जितना कि बनाना है। हमारे देश को हमारी गर्दनों से उबलते ख़ून के धारे की ज़रूरत नहीं है, बल्कि हमारे माथे के पसीने का बारहमासी बहने वाला दरिया दरकार है। ज़रूरत है काम की—ख़ामोश और सच्चे काम की! हमारा भविष्य किसान की टूटी झोंपड़ी, कारीगर की धुएँ से काली छत और देहाती मदरसे के फूँस के छप्पर तले बन और बिगड़ सकता है। राजनीतिक झगड़ों, कॉन्फ़्रेन्सों और काँग्रेसों में कल और परसों के क़िस्सों का फ़ैसला हो सकता है। लेकिन जिन जगहों का नाम मैंने लिया है उनमें सदियों तक के लिए हमारी क़िस्मत का फ़ैसला होगा, और इन जगहों का काम धीरज चाहता है और संयम। इसमें थकान भी ज़्यादा है और क़दर भी कम होती है, जल्दी नतीजा भी नहीं निकलता। हाँ, कोई देर तक धीरज रख सके तो ज़रूर फल मीठा मिलता है।

प्यारे विद्यार्थियो! इस नये हिन्दुस्तान के बनाने के काम में तुम से जहाँ तक बन पड़े हाथ बँटाना। मगर याद रहे कि अगर स्वभाव में आतुरता है, तो तुम इस काम को अच्छी तरह नहीं कर सकते। इस काम में बड़ी देर लगती है। अगर तबियत में जल्दबाज़ी है, तो भी तुम काम बिगाड़ दोगे, क्योंकि यह बड़ा पित्ता मारने का काम है। अगर जोश में बहुत-सा काम करने की आदत है, और उसके बाद ढीले पड़ जाते हो, तो भी शायद यह कठिन काम तुम से न बन पड़ेगा। इसलिए कि इसमें बहुत समय तक बराबर एक-सी मेहनत और लगन चाहिए। अगर असफलता से निराश हो जाते हो, तो इस काम को न छूना, क्योंकि इसमें असफलताएँ ज़रूरी हैं—बड़ी असफलताएँ और पग-पग पर असफलताएँ! यह काम वही कर सकता

है, जिसे हर असफलता और-ज्यादा मेहनत करने पर उभारती हो। इस देश की सेवा में क़दम-क़दम पर खुद देश के लोग ही तुम्हारा विरोध करेंगे। वे लोग विरोध करेंगे जिन्हें हर परिवर्त्तन से हानि होती है। वे जो इस वक्त चैन से हैं और डरते हैं कि शायद परिस्थितियाँ बदलें, तो वे इस तरह दूसरों की मेहनत के फलों से अपनी झोलियाँ न भर पायेंगे। लेकिन याद रखो कि ये सब थक जाने वाले हैं, इन सबका दम फूल जायगा। तुम ताजा-दम हो, जवान हो, तुम्हारे मन में अगर संशय होगा और आत्म-विश्वास का अभाव होगा, तो इस काम में बड़ी कठिनाइयाँ सामने आयेंगी, क्योंकि संशय से वह शक्ति पैदा नहीं होती, जो इस कठिन काम के लिए अपेक्षित है। गन्दे हाथ और मैले मन लेकर भी तुम इस काम को पूरा न कर सकोगे, क्योंकि यह एक बड़ा पवित्र काम है। आपस की घृणा और भ्रान्ति भी इस काम में कुछ अच्छे साथी साबित न होंगे, क्योंकि तुम्हारी राष्ट्रीयता के भवन की बुनियादें प्रेम और विश्वास की चट्टानों ही पर दृढ़ रह सकेंगी।

सारांश यह है, कि तुम्हारे सामने अपने जौहर दिखाने का अद्‌भुत अवसर है। मगर इस अवसर का उपयोग करने के लिए बहुत बड़े नैतिक बल की आवश्यकता है। जैसे मैमार होंगे वैसी ही इमारत होगी, और काम क्योंकि बड़ा है, एक की या थोड़े-से आदमियों की थोड़े दिन की मेहनत से पूरा न होगा, दूसरों से मदद लेनी होगी और दूसरों की मदद करनी होगी। तुम्हारी पीढ़ी के सारे हिन्दुस्तानी नौजवान अगर अपना सारा जीवन इसी एक धुन में बिता दें, तब कहीं यह नाव पार लगे। देखना यह है, कि तुम मदद करने और मदद लेने में समर्थ होगे या नहीं, और दूसरे मदद देने के लिए उद्यत होंगे या नहीं।

जब जात-पाँत, धर्म, और भाषाओं की विभिन्नता से हमारा देश टुकड़े-टुकड़े नजर आता है, जिस देश में स्टेशनों पर मुसलमान पानी और हिन्दू दूध मिलता है, जिस देश में अनेक जातियाँ बसती हैं, जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ प्रचलित हैं, जहाँ एक का सच दूसरे का झूठ है, जहाँ मूर्ति-

पूजक और मूर्त्ति-भंजक को प्रकृति ने साथ-साथ सुख-दुःख के लिए, साथ जीने और मरने के लिए एकत्र कर रखा है—उस देश में नौजवानों से इस तरह मिलकर काम करने की आशा कुछ कम है। मगर दिल यही गवाही देता है, कि थोड़े दिन और धक्के खाने के बाद इस देश के नौजवान देश की सेवा के लिए एक-दिल हो जायँगे। क्योंकि मेरा विश्वास है, कि हिन्दुस्तान के भाग्य में प्रकृति ने यह रच दिया है, कि यहाँ परस्पर भिन्न प्रवृत्ति के मनुष्य एक-दूसरे से मिलकर एक ऐसा 'मानव' बनाएँ, जो यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को एक नया रूप दे सके। प्रकृति के इस प्रयोग और उसके इस शुभ संकल्प में उसकी सहायता करना तुम्हारा कर्त्तव्य है, और इसके लिए अपने-आपको अच्छा आदमी बनाना और अपने दिल को कीना-कपट से खाली करना बहुत ज़रूरी है। बलिदानों के लिए तैयार रहने की ज़रूरत है, अपने इरादे को मज़बूत करने और अपने मन की इच्छाओं पर नियन्त्रण करने की ज़रूरत है। अगर तुममें और तुम्हारे साथी नौजवानों में ये विशेषताएँ न हुईं, और आज ही तुम्हें किसी महात्मा के चमत्कार से राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की अच्छी-से-अच्छी संस्थाएँ बैठे-बिठाए मुफ़्त में ही प्रकृति की ओर से उपहार में मिल गईं, तो भी याद रखो, कि यह उपहार व्यर्थ होगा। ये संस्थाएँ सब-की-सब नीचे होते-होते उसी सतह पर पहुँच जायँगी, जिस पर कि तुम्हारी नैतिक शक्ति होगी, और उनका रूप इतना बिगड़ जाएगा कि मुश्किल से कोई उन्हें पहचान भी सकेगा। राष्ट्र अपनी संस्थाओं को और स्वयं अपनी स्थिति को उसी स्तर पर बनाए रख सकता है, जिस पर वह स्वयं उन्हें अपनी क्षमता से पहुँचाने में समर्थ हो। इसलिए हिन्दुस्तान का गौरव तुम्हारी इन विशेषताओं पर ही निर्भर है। अपनी सारी निजी शक्तियों का विकास करके एक ऐसा नैतिक व्यक्तित्व बनाओ, जिसे जब भारतमाता के सम्मुख अर्पित करने जाओ, तो तुम्हें लज्जित न होना पड़े, और वह गद्गद् होकर उसे स्वीकार कर ले।

सेवा की राह में, जिसकी चर्चा कर रहा हूँ, सचमुच बड़ी ही कठिनाइयाँ

हैं। इसलिए ऐसे क्षण भी आयँगे कि तुम थक कर शिथिल हो जाओगे, बेदम-से हो जाओगे, और तुम्हारे मन में सन्देह भी पैदा होने लगेगा कि यह जो-कुछ किया, सब बेकार तो न था! उस समय भौतिक और सम्भावित (माद्दी और इमकानी) रूप से स्वतन्त्र भारत माता के उस चित्र का ध्यान करना, जो तुम्हारे हृदय-पट पर अंकित हो, यानी उस देश के चित्र का ध्यान जिसमें सत्य का शासन होगा, जिसमें सब के साथ न्याय होगा, जहाँ अमीर-ग़रीब का भेद-भाव न होगा, बल्कि सबको अपनी-अपनी क्षमताओं को पूर्णतया विकसित करने का अवसर मिलेगा, जिसमें लोग एक-दूसरे पर भरोसा करेंगे और एक दूसरे की मदद; जिसमें धर्म इस काम में न लाया जाएगा कि झूठी बातें मनवाए और स्वार्थों की आड़ बने, बल्कि वह जीवन को सुधारने और सार्थक बनाने का साधन होगा। उस चित्र पर दृष्टि डालोगे तो तुम्हारी थकन दूर हो जाएगी, और तुम नए सिरे से अपने काम पर लग जाओगे। फिर भी, अगर चारों तरफ़ कमीनापन और खुदग़र्ज़ी, मक्कारी और धोखेबाज़ी, ग़ुलामी और ग़ुलामी में सन्तोष देखो, तो समझना कि अभी काम ख़त्म ही नहीं हुआ है—मोर्चा जीता नहीं गया है; इसलिए संघर्ष जारी रखना चाहिए और जब तक वह वक्त आए, जो सब को आना है, और इस मैदान को छोड़ना पड़े, तो यह सन्तोष तुम्हारे लिए पर्याप्त होगा, कि तुमने यथाशक्ति उस समाज को स्वतन्त्र करने और अच्छा बनाने का प्रयत्न किया, जिसने तुम्हें आदमी बनाया था। तुम चले जाओगे, दूसरे तुम्हारे काम को जारी रखेंगे, इसलिए कि यह काम कभी ख़त्म होने वाला काम नहीं। समाज की स्वतन्त्रता और समाज की दृढ़ता ऐसी चीज़ें नहीं, जो बस एक बार प्राप्त कर ली जाएँ। ये चीज़ें उसी समाज को मिलती हैं और उसी के पास रहती हैं, जिसके सपूत इन्हें नित्य नए रूप से प्राप्त कर सकें!

बस, अब विदा! तुम्हें तुम्हारी शिक्षा की उपाधि मुबारक हो! तुम से बहुत-सी आशाएँ हैं, परमात्मा करे, निराश न करो!

यह भाषण 'काशी विद्यापीठ' के उपाधि-वितरण के समारोह पर १४ अगस्त सन् १९३५ ई० को दिया गया।

मुसलमानों की माध्यमिक शिक्षा

सज्जनो !

मैं इस ऐतिहासिक शिक्षा-समारोह के प्रबन्धकों की सेवा में, इसकी पचास साल की जुबली पर, हार्दिक बधाई प्रस्तुत करता हूँ; और उनकी इस उदारता के लिए कि मुझे इस विभाग का सभापति बनाया—हार्दिक धन्यवाद ! अपनी अयोग्यता का ज्ञान होते हुए भी अपनी उपस्थिति पर मुझे इसलिए हर्ष है, कि शायद इसमें उस महान् शिक्षा के प्रयोग के लिए, जो मेरे साथी 'जामिआ मिल्लिआ' में कर रहे हैं, उनको और मुझे प्रोत्साहित करने का उद्देश्य निहित है; और शायद इसमें यह अनुभव भी मौजूद है कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों की शिक्षा-व्यवस्था में इस कॉन्फ्रेंस के दृष्टिकोण के अनुसार, बस एक विशेष प्रकार के विद्यालयों के लिए ही स्थान नहीं, बल्कि इसके लिए अभी बहुत-से अन्य शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों और प्रयत्नों की बड़ी आवश्यकता है।

इस कॉन्फ्रेंस को अपना शिक्षा-कार्य शुरू किये आज पचास साल हुए, लेकिन सिर्फ पंचास साल का बीत जाना तो कोई खुशी की बात नहीं ! वक्त तो ज्यों-त्यों बीतता ही है; दिन तो सुख-दुःख से कटते ही हैं, इनके गुजर जाने पर न खुशी की बात है, न रंज की। हाँ, खुशी इस पर हो सकती है, कि जो काम लेकर उठे थे, वह अच्छा था, और जहाँ तक बन पड़ा उसे किया भी। रंज इस पर हो सकता है, कि जो दृष्टि में था उसमें कमियाँ थीं, या उसके पूरा करने में कुछ कोर-कसर रह गई। और मैं समझता हूँ, कि अगर हम विवेक के साथ अपने अतीत को परखने लगें, तो

शायद ख़ुशी और रंज दोनों ही के अवसर मिलेंगे। मगर यह ठीक न होगा, कि इस वक्त को, जब कि हम अपने काम पर बहुत समय हो जाने से विशेष ध्यान देने लगे हैं, यों हँस कर या रोकर बिता दें। अच्छा तो यह है, कि हम अपने काम को परखें, अपनी सफलताओं और असफलताओं दोनों ही से शिक्षा लें, और उन आधी शताब्दी के अनुभवों और प्रयोगों के प्रकाश में आगे बढ़ने की राह बनाएँ, यानी अपने पचास साल के शिक्षा-कार्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालें।

किसी शिक्षा-सम्बन्धी प्रयास की आलोचना करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के वास्तविक महत्त्व पर ध्यान दिया जाए। आपकी कॉन्फ्रेन्स का नाम और इसके कार्यों का इतिहास बतलाता है, कि आप शिक्षा-कार्य को सचमुच एक सामाजिक कार्य समझते हैं। व्यक्ति की सारी सहज शक्तियों का पूर्ण विकास समाज ही में सम्भव है, विशेषतः मानसिक जीवन, जो कि मानवता का मुख्य गुण है, बिना समाज के विकसित नहीं हो सकता। हर समाज अपने अस्तित्व की रक्षा करने, अपने अतीत की पूँजी को सुरक्षित रखने और उसमें यथावश्यक परिवर्तन और परिशोधन करने की व्यवस्था अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों ही से करता है, और अपनी आने वाली नस्लों का मानसिक विकास अपनी वर्त्तमान संस्कृति के द्वारा किया करता है। इससे नये मस्तिष्क की शक्तियाँ जाग्रत और विकसित होती हैं, और इस प्रकार विकसित हो कर ये शक्तियाँ इस सांस्कृतिक पूँजी को बढ़ाने की और इसे बदलने की क्षमता भी अपने अन्दर पैदा करती हैं। शिक्षा नाम ही इसका है, कि विद्यार्थी की सभी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास करके उनमें सामञ्जस्य पैदा किया जाए, और उसे सांस्कृतिक जीवन के सभी व्यापारों का पूर्ण ज्ञाता बना कर, अपनी शक्ति के अनुसार उनमें भाग लेने के लिए तैयार किया जाए। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब कि समाज के सामने कोई सांस्कृतिक लक्ष्य विद्यमान हो।

समाज के सांस्कृतिक लक्ष्य और उसके शिक्षा-विधान में जब इतना

घनिष्ठ सम्बन्ध है, तो फिर शिक्षा की आलोचना के दो रूप हो सकते हैं। एक तो यह देखना कि शिक्षा का रूप उस सांस्कृतिक लक्ष्य के अनुरूप है या नहीं, और उसकी सच्ची सेवा करके वह अपना मुख्य कर्त्तव्य पालन कर रही है या नहीं। या अगर वह सच्ची सेवा कर रही है, तो यह देखना चाहिए कि वह लक्ष्य ठीक भी है या नहीं, और कुछ सामयिक परिस्थितियों ने ही अस्थायी रूप से समाज का यह लक्ष्य निर्धारित कर दिया है, या यही इसका निश्चित उद्देश्य है, इत्यादि। तो, पहला तो साधनों की आलोचना का रूप है, और दूसरा उद्देश्यों की आलोचना का।

मैं आलोचना का यह रूप इसलिए और भी अपनाना चाहता हूँ कि शिक्षा के तीन परम्परागत विभागों यानी पूर्व माध्यमिक और उत्तर माध्यमिक के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा का सम्बन्ध सांस्कृतिक जीवन और उसके उद्देश्यों से बहुत ही गहरा है, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा तो बच्चे को उस उम्र में दी जाती है, जबकि उसका मानसिक क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा संकीर्ण होता है, और उसके आत्मिक साधनों में एकरूपता होती है। वह संस्कृति का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं कर सकता, न उसकी परख ही कर सकता है। वह तो अधिकतर अपने ही वातावरण के जीवन से अचेत रूप (Unconscious) में प्रभावित होता है। इसलिए इस अवस्था में अध्यापक का काम बहुत कुछ यह है, कि बच्चे के लिए शिक्षा का ऐसा अनुकूल और हितकर वातावरण निर्माण करे जिसमें इसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ सामूहिक रूप से सजग हो उठें। इस राह में कुछ दूर तक तो अध्यापक बच्चे को उँगली पकड़कर चलाता है और यद्यपि अच्छे अध्यापक की कोशिश यह होती है कि बच्चा जल्दी ही बिना सहारे के चलने लगे, फिर भी रास्ता बताने की जिम्मेदारी बहुत-कुछ उसी पर होती है। यहाँ तक कि बच्चा जीवन की उस मंज़िल पर पहुँच जाता है, जब कि यह हर चीज को आप जाँचना और परखना चाहता है, जहाँ एक ओर तो इसमें आलोचनात्मक प्रवृत्ति जग जाती है, और दूसरी ओर इसकी मानसिक शक्तियों में एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है। यह सांस्कृतिक क्षेत्रों की विविधता

का अनुभव करने लगता है, इनकी अनेकरूपता को देखकर घबराता भी है, और इनमें एकरूपता की खोज भी करता है। इस अवस्था में विशेषतः अध्यापक का काम बहुत ही सावधानी का काम है। अब इसे अपने नौज-वान विद्यार्थी के सामने अलग-अलग जीवन के हर विभाग, धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि का विवेचन करना है; इनका पारस्परिक सम्बन्ध बतलाना है, इसे इनमें भाग लेने के लिए तैयार करना है। मगर इस तरह नहीं कि नवयुवक के स्वतन्त्र मत को दबाकर इसे वैसा करने पर मजबूर करे, बल्कि इसे परखने का पूरा मौका दे, इसके सन्देह और भ्रान्ति को, जहाँ तक हो सके, दूर करे, और जहाँ यह न हो सके—इसे अपनी राह पर चलने दे। मगर इस बात का भी ध्यान रखे कि यह कहीं दूसरों की राह में रुकावट न बने।

इसके बाद उच्चतर शिक्षा की बारी आती है, जिसमें एक नया विद्यार्थी, सामान्य मानसिक विकास की अवस्था से निकलकर विशेष विद्याओं और कलाओं में निपुणता प्राप्त करता है। अगर माध्यमिक शिक्षा सही और पूरी हो, तो उच्चतर शिक्षा की समस्या बहुत सुगम हो जाती है। यहाँ भी इसके लिए अध्यापक का सहयोग आवश्यक होता है। मगर अब क़दम पहले यही आगे बढ़ाता है; और जिम्मेदारी भी इसकी अपनी होती है।

ऊपर कही हुई बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा, कि माध्यमिक शिक्षा की अवस्था इसलिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस अवस्था में संस्कृति की विवेचना और विशेष व्याख्या करना, जो अध्यापक को हर अवस्था में करना पड़ता है, और भी कठिन हो जाता है। यहाँ अध्यापक का काम यह है, कि वह सांस्कृतिक जीवन का अनेक रूपों में विश्लेषण कर सके, नवयुवक की आलोचनात्मक प्रवृत्ति को भी उभारे, मगर सही राह से उसे भटकने भी न दे; इसके व्यक्तित्व का सम्मान भी करे और इसे सामा-जिक जीवन से सम्बन्धित करने की कोशिश भी। इसका मतलब यह है, कि यों तो शिक्षा की प्रत्येक अवस्था में एक सांस्कृतिक लक्ष्य को सामने रखना

ज़रूरी है, लेकिन माध्यमिक शिक्षा की अवस्था में अध्यापक के लिए यह अनिवार्य है कि इसे यह लक्ष्य स्पष्ट हो, और इससे इसका मानसिक सम्बन्ध भी हो, और यह इसकी विवेचना और व्याख्या भी भली भाँति कर सके।

तो, लक्ष्य के निश्चित होने के बाद ही पाठ्य-क्रम और शिक्षा-प्रणाली यानी उन साधनों और उपायों को जुटाना सम्भव होता है, जिनसे वह लक्ष्य की पूर्त्ति कर सके। इसलिए मैं इस समय मुसलमानों की वर्त्तमान माध्यमिक शिक्षा के लक्ष्य, पाठ्य-क्रम और उसकी प्रणाली ही पर संक्षेप में विचार करना चाहता हूँ, और यह बताना चाहता हूँ कि इन तीनों में कितने सुधार की ज़रूरत है। इस विचार को, मजबूर होकर, मुसलमानों के नवीन शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों तक ही सीमित रखूँगा। शिक्षा की प्राचीन प्रणाली को भी इस दृष्टिकोण से परखना ज़रूरी है। लेकिन अभी इसका अवसर नहीं आया।

प्रायः कहा जाता है, कि मुसलमानों की नई शिक्षा-प्रणाली का, जो सरकारी शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित है, कोई विशेष लक्ष्य नहीं। पर मेरे विचार से यह ठीक नहीं है। किसी लक्ष्य के निर्धारण के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कुछ विशेष शब्दों में ही व्यक्त किया गया हो। शिक्षा देने वालों, शिक्षा की व्यवस्था करने वालों और शिक्षा दिलाने वालों के मस्तिष्क में इसका विद्यमान होना और इनके व्यवहार से इसका प्रकट होना ही पर्याप्त है।

हाँ, तो यह लक्ष्य क्या था? यह लक्ष्य था, कि इस देश के मुसलमानों में उच्च और मध्यवर्ग के व्यक्तियों की जितनी संख्या अपना पेट पाल ले, सरकारी नौकरियाँ पाकर आराम-चैन, और हाँ, थोड़ी-सी हुकूमत के साथ जिन्दगी के दिन काट लें, तो अच्छा है। ये कुछ व्यक्ति अपने सुखी जीवन का स्तर जितना ऊँचा कर लें, उतना ही राष्ट्र सुखी समझा जाय। इस राह में जो रुकावटें हों, वे हर तरह कम की जाएँ। भविष्य की अनिश्चित योजनाओं से वर्त्तमान की निश्चित प्रगति में बाधा न पड़े, और राष्ट्रीय युगान्तर की कल्पना भी व्यक्तिगत सांसारिक सुख-चैन में विघ्नकारी न हो सके।

संस्कृति बदल दी जाय। अपनी पुरानी संस्कृति बुरी है, और बुरी इसलिए है, कि वह एक प्रभावशाली राष्ट्र की संस्कृति से भिन्न है! राजनीति से उदासीन रहना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिगत उन्नति और उत्कर्ष के लिए इन्हें अपने समाज के राजनीतिक प्रभुत्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शासन का जो रूप भी हो, बस वह शान्ति की रक्षा कर सके, प्रजा के आपसी झगड़ों में न्याय कर सके, नौकरियाँ दे सके, कुछ लोगों को बहुत ऊँचा पद दे सके कि उसका काम निकले और हमारा मान बढ़े। धर्म, जो कि सदियों तक इस समाज के जीवन का केन्द्र रह चुका था, छूटता तो भला कैसे, अवश्य सुरक्षित रहे—मगर इस तरह कि अन्य आकांक्षाओं की पूर्ति में और उन्नति की राह में बाधक भी न हो; उन मामलों में जिनका सारी दुनियाँ से सम्बन्ध है, इसके आदर्शों और उनके मूल तत्त्वों पर अधिक बल न दिया जाय, और चुपचाप दुनियाँ के दूसरे अधिक प्रगतिशील लोगों की कार्य-पद्धति को अपना लिया जाय। साथ ही धार्मिक विश्वासों और कृत्यों पर केवल शब्दों या सैद्धान्तिक बातों का ही बल हो—क्रियात्मक बल नहीं; और हाँ, धार्मिक अनुभूति के क्षेत्र में आत्मवंचना (Self delusion) के लिए धर्म के उन अंगों का, जो बुद्धिसंगत नहीं हैं, बौद्धिक-तर्क, दर्शन और विज्ञान के द्वारा समन्वय करने की चेष्टा की जाय, तो कोई हानि नहीं!

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जो शिक्षा की विधि उपयोगी सिद्ध हो सकती थी, वह व्यवहार में आई। बहुत-कुछ दूसरों की मदद से, कुछ-कुछ अपनी कोशिश से, इस शिक्षा-विधि के अनुसार यही हो सकता था कि नौजवान लिखना-पढ़ना सीखकर सरकारी नौकरी करने लगें, अपना पेट पालें, संस्कृति के पश्चिमी आदर्शों की भली-बुरी नक़ल उतार सकें, धर्म से मुँह तो न मोड़ें, किन्तु इसकी जीवनप्रद और जीवन-पालिका शक्ति से वंचित रहें, तो जैसे कोई हानि नहीं! राजनीतिक झगड़ों से अलग-अलग रहें, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को पूरा करने के लिए अगर कभी राष्ट्र की दुहाई देने की जरूरत पड़ी, तो यह हुनर जमाना ख़ुद सिखा देगा—यानी शिक्षा की कुछ कलाओं के द्वारा, आज्ञाकारिता की भावना से, और आर्थिक

सुविधा के लिए सहयोग और प्रतियोगिता की प्रवृत्तियों के द्वारा भी !

हमने जो शिक्षा-संस्थाएँ, विशेष रूप से, मुसलमानों के लिए बनाईं, और जिनमें अपनी शक्ति और समय और साधनों का जो महान् प्रयोग लगभग पचास वर्ष से किया जा रहा है, उनको देखिए। क्या उन्होंने भी इसी लक्ष्य की पूर्ति नहीं की? महाकवि अकबर ने पढ़े-लिखे आदमी की ज़िन्दगी के बारे में यह कहा है कि, "बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गए।" क्या यह बात हमारी इन राष्ट्रीय संस्थाओं के पढ़े-लिखों पर भी ठीक-ठीक नहीं उतरती? हम किस तरह इन्हें इस्लामी संस्थाएँ बताते हैं? क्या इस्लाम के अनुसार समाज का यही रूप है, कि वह अलग-अलग बिखरे हुए व्यक्तियों का बस एक आकस्मिक और उपयोगी समुदाय है? क्या इस्लाम की धार्मिकता ऐसी ही परम्परागत और बाहरी चीज़ है, जैसी कि इन मदरसों की कार्यपद्धति से प्रतीत होती है? क्या इस्लाम की राजनीति ऐसी ही आराम चाहने वालों और भिखमंगों की राजनीति है? क्या निजी स्वार्थों के लिए इस्लाम अपने वातावरण और अपने समाज के उद्देश्यों के प्रति ऐसी ही उदासीनता सिखाता है, जैसी कि हमने अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों से पैदा की है? नहीं, और बिलकुल नहीं !

मगर यह रोना अपनी शिक्षा-व्यवस्था का नहीं, यह तो अपने राष्ट्रीय जीवन का रोना है। राष्ट्रीय विशृङ्खलता और पतन ने जब उसके लक्ष्य ही को इतना विकृत और सारहीन बना दिया था, फिर शिक्षा कैसे सुरक्षित रहती? लेकिन अब, जब कि हम कुछ-कुछ इस लक्ष्य को ग़लत समझने लगे हैं, अगर इस शिक्षा-व्यवस्था को हमने न बदला, तो फिर अपने लक्ष्य को बिगाड़ने की ज़िम्मेदारी भी शिक्षा की होगी। भगवान् की दया से आज फिर हमें अपनी स्थिति का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा है, हम कुछ-कुछ समझते जा रहे हैं, कि राष्ट्रीय जीवन का वह वैयक्तिक और विशृङ्खल स्वरूप हम नहीं अपना सकते, जो उस अवनति-काल में हम पर अपना प्रभाव जमा चुका था। क्योंकि इससे तो राष्ट्र के अस्तित्व ही के मिट जाने

का भय है? हम फिर अपने राष्ट्रीय अस्तित्व के सच्चे धार्मिक और नैतिक आधार की ओर ध्यान देने लगे हैं। अब हम अपने समाज के मानवीय और भौतिक कर्त्तव्यों को भी कुछ-कुछ समझने लगे हैं, और कानों और दिलों तक अपने अमर शहीदों के गौरव और कर्त्तव्यों की याद दिलाने वाली पुकारें भी सुनाई पड़ने लगी हैं। हम धर्म की परम्परा की अपेक्षा इसकी क्रियात्मक और आध्यात्मिक शक्ति की ओर भी प्रवृत्त होने लगे हैं, जो सारे जीवन और संसार में हमारे अस्तित्व और महत्व का बोध कराती है। और एक ऐसी दुनियाँ जो जाति, जन्म-भूमि और धन-दौलत की विषमताओं के कारण मानवता के लिए नरक बन गई है, फिर हमसे उस यथार्थ न्याय और समता की महत्ता का सन्देश सुनने, और उसके क्रियात्मक अनुभव को देखने के लिए आकुल है, जो कभी एक अनपढ़ 'नबी' ने दुनियाँ को सुनाया और दिखाया था। क्या मुस्लिम राष्ट्र इस सौभाग्य, इस सुअवसर और इस दायित्व को दो रोटियों के लिए बेच देगा?

इस सवाल का जवाब आपको देना होगा! क्योंकि राष्ट्र के सामान्य लक्ष्य को बदलने का काम इसके राजनीतिज्ञों और विचारकों, इसके साहित्यिकों और कवियों; इसके धार्मिक व्यक्तियों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का भी है, और इसकी उच्च शिक्षा-संस्थाओं का भी? इसलिए मुसलमानों की उच्च शिक्षा के इस केन्द्र पर, जहाँ आज राष्ट्र के महापुरुष इस विशेष अवसर पर एकत्र हुए हैं, मैंने आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करने का साहस किया। अगर आप अपने राष्ट्रीय जीवन की वर्त्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हैं, तो आपका कर्त्तव्य है कि राष्ट्र को उन हानिकारक विचारों और मन की घातक वृत्तियों से मुक्त करें, जिनसे कि इसके अस्तित्व के मिट जाने का भय है। ज्यों-ज्यों आप राष्ट्रीय विचार-धारा में इस नये, किन्तु सचमुच पुराने लक्ष्य को अपनाते जाएँगे—आपका शिक्षा-विधान क्या, राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्र, जिन्हें लक्ष्य-हीनता ने उजाड़ दिया है—नई उमंगों और नए उत्साह, नई कोशिशों और नई आशाओं, यानी एक नए जीवन की बहार से लहलहाने लगेंगे। और अगर आपको अपने राष्ट्रीय जीवन

की वर्त्तमान दुरवस्था पर सन्तोष है, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि आपके माध्यमिक शिक्षा के मदरसे ही क्या, आपका सारा शिक्षा-विधान ही ठीक है। इसे तनिक भी न बदलिए! ये सब संस्कृति की झूठी नक़ल, धर्म की खोखली परम्परा, और राजनीति के क्षेत्र में ग़ुलामी पैदा करने, ज्ञान के क्षेत्र में शोध-कार्य से दूर हटाने, कला के क्षेत्र में रचनात्मक प्रवृत्ति से विमुख करने और दुर्बल शरीर, जड़ बुद्धि, और भावहीन हृदय का निर्माण करने के लिए बड़े कामियाब कारख़ाने हैं!

लेकिन, अपने सामान्य सांस्कृतिक विश्वास के मौजूद होने पर भी शायद आप इन मदरसों का रूप बदलने पर मजबूर हों। इसलिए कि वे अब अपनी असली और बुनियादी टेक को पूरी तरह नहीं निबाहते, यानी जीविका नहीं दिला सकते। वे जीविका के साधन जुटाते थे सरकारी नौकरियाँ दिला कर, पर अब इस चरागाह में इतना बड़ा झुण्ड पहुँच चुका है कि यह औरों के लिए तंग है। इसलिए इन मदरसों के चलाने वाले भी परेशान हैं कि क्या करें? रोज़ नई-नई योजनायें बनाई जाती हैं। सामान्य मानसिक शिक्षा-विकास के प्रति आलोचना और व्यंग का तारतम्य टूटने नहीं पाता, और जल्दी ही शिक्षा-विधान में किसी उद्योग-व्यवसाय की शिक्षा सम्मिलित कराने की माँग होने लगती है। मेरा विचार है, कि ये सब नई योजनाएँ उसी लक्ष्य के अधीन हैं, जिनकी चर्चा ऊपर कर चुका हूँ। अब मुहर्रिरी करके रोटी नहीं मिलती, तो कुछ और सिखा देना चाहिए कि पेट पालने का साधन बने। मगर मुझे डर है, कि ये कला और दस्तकारी को मदरसों में स्थान देने की योजनाएँ, सबको जीविका दिलाने का काम जितना आसान समझती हैं, वह उतना आसान है नहीं। वह मदरसों के रूप में थोड़ा-सा हेर-फेर करने से हल न हो सकेगा। जिन देशों में व्यावसायिक व औद्योगिक शिक्षा की संस्थाएँ हर सीखने वाले को धन कमाने के अनेक ढंग सिखाने के लिए मौजूद हैं, वहाँ भी बेकारी दिखलाई पड़ती है। काम-सीखे-नौजवान काम करने के लिए मारे-मारे फिरते हैं, और उन्हें कहीं काम नहीं मिलता। इसलिए यह समझकर अपने को धोखा न

दीजिए कि आप अपने मदरसों में थोड़े-से परिवर्तन और सुधार ही से इस समस्या को हल कर सकेंगे। यह उससे कहीं अधिक व्यापक समस्या है! यह तो सारे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की समस्या है। यह धन कमाने के सिद्धान्तों को और-अच्छा रूप देने और सम्पत्ति-विभाजन के और-अच्छे उपायों को ढूँढ़ निकालने की समस्या है। यह राष्ट्रीय पूँजी और राष्ट्र के परिश्रम के उचित सामञ्जस्य की समस्या है। उत्पत्ति-संख्या और मृत्यु-संख्या पर नियन्त्रण करके आबादी को एक विशेष सीमा में बाँधने की समस्या है। यह मदरसों में दर्ज़ीगीरी और बढ़ई के काम को शुरू कर देने या इनके प्रयोग के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट छाप देने-भर से हल न होगी।

कौन नहीं मानता कि रोटी कमाना जीवन का सबसे मुख्य काम है? लेकिन इस कर्त्तव्य को पूरा करने में आदमी को अपना व्यक्तित्व और मनुष्यत्व भी सुरक्षित रखना आवश्यक है। यों तो जानवर भी अपना पेट पालने के लिए अपनी प्राकृतिक शक्तियों और सहज क्षमताओं को तज नहीं देते। फिर ग़रीब इन्सान क्यों अपने पेट के लिए अपनी प्राकृतिक शक्तियों और सहज क्षमताओं की बलि देने पर मजबूर हो। मनुष्य की सामान्य आर्थिक स्थिति के लिए भी यही अच्छा है, कि वह उसी व्यवसाय को अपनाए, जिसकी विशेष क्षमताएँ उसे ईश्वर ने दी हैं। संयोग तो देखिये, कि जो मानवता और जीवन दोनों का लक्ष्य है, वही उचित शिक्षा की भी एक राह है। क्योंकि शिक्षा का एक उचित साधन यही तो है, कि जब माध्यमिक अवस्था के अन्तर्गत विद्यार्थी में विवेक उत्पन्न हो जाए, तो उसका मानसिक विकास उन सांस्कृतिक उपकरणों ही के द्वारा किया जाए, जो उसके विशेष मानसिक रूप और प्राकृतिक क्षमताओं के सर्वथा अनुकूल और उपयुक्त प्रतीत हों। सांस्कृतिक उपकरण मस्तिष्क का बाह्य रूप होते हैं। इनके अन्दर इन्हें अपने अस्तित्व में लाने वाले या लाने वालों की मानसिक शक्तियाँ सुरक्षित होती हैं। जब कोई दूसरा मस्तिष्क इनको समझता, अपनाता और बरतता है, तो ये शक्तियाँ उस मस्तिष्क के विकास की सामग्री जुटाती हैं। विद्वानों की इस बड़ी सभा में यह बात कहना अनुचित न होगा,

कि उन मानसिक शक्तियों के द्वारा, जो कि सांस्कृतिक उपकरणों में सन्निहित हैं; दूसरे मस्तिष्कों का परिपोषण करना और इससे उनका विकास करना ही सच्ची शिक्षा है। शिक्षा का उद्देश्य ही इस प्रकार बाह्य मस्तिष्क का आभ्यन्तर-मस्तिष्क में परिवर्तित हो जाना है।

अगर यह बात उन लोगों के ध्यान में हो, जो हमारे शिक्षा-विधान, विशेषतया माध्यमिक शिक्षा के विधान के बदलने की योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहते हैं, तो शायद वे इसकी व्यवस्था में थोड़ा-सा परिवर्तन करने या विषयों (मज़ामीन) के बढ़ाने-घटाने से, या शिक्षा की अवधि में काट-छाँट करने से, या यूनिवर्सिटी-शिक्षा की ओर बढ़ती हुई नौजवानों की बाढ़ रोकने के लिए एक ख़ास उम्र तक आम शिक्षा देने के बाद औद्योगिक, व्यापारिक, कृषि-शिक्षा के मदरसों में इस रेले को मोड़ने की युक्तियों से; हमारी शिक्षा की गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश न करें; परन्तु पर्याप्त मौलिक विचार-विमर्श के बाद वे लोग सुधार की शायद अधिक मौलिक युक्तियाँ सोच निकालें।

उदाहरण के लिए, वे हमारी प्रारम्भिक शिक्षा के उस विधान को, जो हमारी सहज क्षमताओं का ह्रास करे, बदले बिना, माध्यमिक शिक्षा को सुधारने की दुराशा न करें। शायद वे समझें कि बचपन में जब कि प्रकृति बच्चे को अपने वातावरण के द्वारा स्वयं अनुभव करने पर बाध्य करती है, जब कि चारों ओर की चीज़ों को बरत कर, बना कर, बिगाड़ कर, तोड़ कर, जोड़ कर समझने और उनसे सम्बन्ध जोड़ लेने पर इसकी मनोवृत्ति इसे पल-पल पर उकसाती है, जब यह अपनी इच्छाओं को कार्यान्वित करना चाहता है, जब यह अपनी शारीरिक और आत्मिक क्रियाशीलता की शक्ति को अपने अन्दर दृढ़ करना चाहता है—यानी जिस उम्र में मामूली बच्चों की बहुत बड़ी संख्या का रुझान प्रयोग और अनुभव की ओर होता है, उस उम्र में हम इनको सिर्फ़ किताबें देकर तंग और अँधेरे मकानों में बन्दियों की भाँति न बैठायें, और इनको इनके प्राकृतिक वातावरण से दूर घसीटने की वे प्रभावशाली युक्तियाँ प्रयोग में न लाएँ, जैसा कि हम अपने प्रारम्भिक शिक्षा

के मदरसों में करते हैं। शायद हम लोग सुधार और परिवर्तन की ऐसी युक्तियाँ न निकाल सकें, जिनसे हमारे इन प्रारम्भिक शिक्षा के मदरसों में सहमे हुए निर्जीव चेहरों की जगह प्रसन्न-मुख हँसते-बोलते बालक दिखलाई पड़ें, और हमारे मदरसों का मरघटों-जैसा घोर सूनापन, बस पहाड़ों की रटाई और पिटने-कुटने की चीख-पुकारों से भंग न हो, बल्कि इनका वातावरण बालकों की हँसी-खुशी, इनके खेल-कूद के शोर-ग़ुल और इनके काम करने की हम-हमाहट से गूँज उठे, जिससे कि प्रकृति की इच्छा के विपरीत केवल किताबी शिक्षा पाकर इनकी उभरती हुई क्षमताएँ छिप या दब न जाएँ, और हम माध्यमिक शिक्षा की मंज़िल पर पहुँचकर थोड़ा-बहुत जान सकें कि बच्चे का मानसिक झुकाव प्रायः किस ओर होता है?

शायद कोरी तुकबन्दियों को छोड़कर हम अपने शिक्षा-विशेषज्ञों से यह पूछें कि बच्चों की चेतना में क्षमताओं का विशेष उभार प्रायः किस अवस्था में शुरू होता है, और इसके आत्मिक-निर्माण के कौन-कौन-से आम साँचे हैं, जिससे प्रारम्भिक शिक्षा के अन्त में माँ-बाप और अभिभावकों को ही नहीं, बल्कि सरकार को भी यह सुझाव दिया जा सके, कि इन बच्चों में किस प्रकार की विशेष क्षमताएँ और मुख्य प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, और इनको किस प्रकार की माध्यमिक शिक्षा देनी चाहिए।

और फिर शायद इन विविध क्षमताओं के अनुसार ही हम भिन्न-भिन्न प्रकार के माध्यमिक मदरसों को साथ-साथ बनायें, जिनमें से कोई भाषा सम्बन्धी (लिसानी) और ऐतिहासिक प्रवृत्ति के अनुरूप ही सांस्कृतिक उपकरणों से अपने विद्यार्थियों का मानसिक विकास करें, कोई वैज्ञानिक-औद्योगिक क्षमताओं को सामने रखें और कोई सौन्दर्यप्रियता और रचनात्मक प्रवृत्ति को। लेकिन सभी परिस्थितियों में यह मालूम होना ज़रूरी नहीं कि विद्यार्थी के स्वभाव की स्थायी प्रवृत्ति क्या है? इसलिए इन माध्यमिक शिक्षा के मदरसों में शायद इस बात की भी व्यवस्था की जाए कि मदरसे का मुख्य पाठ्यक्रम विद्यार्थी का सारा समय न ले-ले, बल्कि उसे दूसरे कामों को करने का भी अवसर दिया जाए, जिससे कि दूसरी क्षमताएँ भी अगर उसमें मौजूद

हों, तो वे अनुपयोग के कारण क्षीण न हो जाएँ; और अगर किसी क्षमता का अनुमान करने में हमसे भूल हुई है, तो उसकी जाँच हो सके।

अगर ऐसी व्यवस्था हो जाए, तो शायद हम लोग सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के विरोध में व्यर्थ की बहसों, और रोटी कमाने और आदमी बनाने की अलग-अलग शिक्षाओं के निरर्थक प्रयोगों के पचड़े से बच जाएँ; इसलिए कि जब माध्यमिक शिक्षा का यह बहुरूपी विधान अपने विद्यार्थियों की प्राकृतिक क्षमताओं का ध्यान प्रारम्भ ही से रखेगा—तो ये माध्यमिक मदरसे सचमुच उस पेशे ही के लिए विद्यार्थियों को आम-तौर पर तैयार करेंगे, जिसमें कि वे निपुण हैं। संस्कृति के उस विशेष विभाग की सहायता से, जिसके साथ इसका प्राकृतिक सम्बन्ध है, हर विद्यार्थी के लिए मानसिक विकास का साधन होगा, और इस प्रकार विकास पाकर यह संस्कृति के अन्य विभागों से भी लाभ उठा सकेगा। शायद उन शिक्षा के व्यवस्थापकों से जो इस समय मेरे ध्यान में हैं, यह असलियत छिपी न होगी, कि माध्यमिक शिक्षा संस्कृति के किसी विशेष तत्त्व की सहायता से ही विद्यार्थियों को पूर्ण संस्कृति का मर्मज्ञ बना सकती है, और पहले ही पूर्ण सभ्य और संस्कृत मानव का निर्माण करने से विशेष क्षमताओं का सुधार-परिष्कार नहीं होता, वरन् विशेष क्षमताओं के विकास के द्वारा ही पूर्ण सभ्य और संस्कृत मानव का निर्माण सम्भव है।

मानसिक विकास के लिए तो, कहीं साहित्य और भाषाविज्ञान से, कहीं उद्योग और विज्ञान से—तरह-तरह के मदरसे ज़्यादा काम लेंगे। लेकिन शायद हमारी माध्यमिक शिक्षा का यह नया विधान अपने विद्यार्थियों की मान्यताओं के क्षितिज को निश्चित और व्यापक बनाने के लिए, इन्हें अपने लक्ष्य के प्रति सजग करने, इन्हें अपने अतीत का ज्ञान कराने और इनमें भविष्य के पूर्ण दायित्व की चेतना उत्पन्न करने के लिए सभी मदरसों में अपने धर्म, अपने इतिहास और अपनी भाषा की शिक्षा को विशेष महत्त्व देगा, और इन्हें बस चन्दा जमा करने या विरोधों को टाल सकने का साधन न बनाएगा। वह इन चीज़ों की शिक्षा देने के लिए अच्छी-से-अच्छी पद्धति

निकालेगा, इनके लिए अच्छी-से-अच्छी शिक्षा-सामग्री जुटाएगा, और इनकी शिक्षा के लिए अच्छे-से-अच्छा अध्यापक निर्माण करने की विशेष व्यवस्था भी करेगा; क्योंकि माध्यमिक शिक्षा की अवस्था में नवयुवक को अपनी भावनाओं के परिष्कार के लिए किसी व्यक्ति के आदर्श की अनुकृति करना आवश्यक है। और नैतिक व धार्मिक मान्यताओं की पहचान और उनसे लगाव के लिए तो प्रायः इतिहास और अपने वातावरण से सम्बन्धित व्यक्तियों का प्रभाव ही विशेष रूप से सहायक होता है।

शायद यह नया विधान अपने अध्यापकों का उससे कहीं अधिक सम्मान करेगा, जितना कि हम आजकल करते हैं। वह शायद बड़ी देखभाल के बाद किसी को अध्यापक बनने देगा। लेकिन जिसको अध्यापक बनाएगा उसे राष्ट्रीय जीवन में वह उच्च पद भी प्रदान करेगा, जिसका कि हर एक अच्छा अध्यापक वास्तव में अधिकारी होता है। वह अपने नौजवानों को, जो कि समाज की बहुमूल्य निधि हैं, इन अध्यापकों के हाथ में सौंप देगा, तो इनकी धरोहर पर भरोसा भी करेगा। फिर इन अध्यापकों के पास राष्ट्र के हृदय की कुञ्जी भी तो होगी। इनके विशिष्ट व्यक्तित्व के चमत्कार द्वारा उजड़े हुए दिलों से नवजीवन और नवीन चेतना के अनेक स्रोत फूट निकलेंगे, और चकित और जिज्ञासु नवयुवकों के ज्ञान और शोध की अन्धकारमयी दिशाएँ फिर असंख्य तारकों से आलोकित हो उठेंगी।

शायद यह नया विधान, जिसकी चर्चा इस समय ठीक एक सपने की चर्चा की तरह है, मगर जिसको सच कर दिखाना बहुत-कुछ आपके-मेरे हाथ में है, उस शिक्षा की पुस्तक-गर्भित और सैद्धान्तिक प्रणाली से भी इस तरह बोझिल न बना रहेगा, जैसा कि आज है। और मदरसों में हमारे बच्चे और नौजवान, बस सुनकर और निर्धारित पुस्तकें पढ़-पढ़कर अपने दिमाग़ों को रटन्त विद्या और बेकार की बातों से न भरा करेंगे, बल्कि प्रयोग-शालाओं और पुस्तकालयों में अपनी खोज, अपनी प्रवृत्ति और अपने परि-श्रम से, बड़े स्नेही और सुयोग्य अध्यापकों की देख-रेख में, अपनी स्वत-न्त्रता और अपने दायित्व के अनुभव द्वारा वास्तविक शोध का महत्त्व समझ

सकेंगे ।))

लेकिन, मानसिक विकास की इस व्यक्ति-प्रधान-प्रणाली के होते हुए भी, शायद ये मदरसे सामाजिक चेतना उत्पन्न करने और सामाजिक मेल-मिलाप की प्रवृत्ति जगाने के अवसरों और साधनों की उतनी उपेक्षा न करेंगे, जितनी कि हमारे आजकल के मदरसे किया करते हैं। और शायद शील के विकास को भी कोरे ज्ञान और जानकारी की अपेक्षा, ये मदरसे कभी कम महत्त्व न देंगे। शायद सामाजिक चेतना और समाज-सेवा की स्फूर्ति और भावना मदरसों में खाली बात बनाने से ही पैदा न की जायगी, बल्कि मदरसों का जीवन ही बाहर के सामाजिक जीवन का नमूना होगा, और इसकी व्यवस्था और संगठन का भार अधिकतर विद्यार्थियों पर ही होगा। हमारे ये नये मदरसे नौजवानों के स्वावलम्बी समुदाय होंगे, जिनमें नई नस्ल अपने सामाजिक जीवन के निर्माण का क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करेगी, और एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नौजवान स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने, बरतने और बढ़ाने के लिए तत्पर होंगे।

हमारे ये मदरसे शायद बाहर की दुनियाँ से इतने अपरिचित न होंगे, जैसे कि आज हैं; और माध्यमिक शिक्षा की संस्थाओं में अध्यापकों को यह चिन्ता न होगी कि अपने विद्यार्थियों को मदरसे के काँचघर में छुई-मुई की तरह दुनियाँ से अलग-अलग रखें, बल्कि उन्हें यह चिन्ता भी रहा करेगी कि इन नौजवानों के लिए राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कहाँ-कहाँ सेवा के अवसर जुटाएँ और किस तरह वास्तविक जीवन से इनका सम्बन्ध जोड़ें ? क्योंकि इन मदरसों के अध्यापक अपने जीवन का उद्देश्य ही यह समझेंगे कि एक ओर तो विद्यार्थी की प्राकृतिक विशेषताओं का ध्यान रखकर उनका मानसिक विकास करें, और दूसरी ओर उनके उस विकसित मस्तिष्क को राष्ट्र के चरम लक्ष्य का सेवक बनाएँ और उन्हें इसलिए तैयार करें कि वे अपने समाज को मानवता का उपकार करने अर्थात् ईश्वरेच्छा को पूरा करने का साधन बनाएँ।

हमारे ये मदरसे सचमुच इस्लामी मदरसे होंगे और इस्लाम का लक्ष्य

ही इनके सामने होगा। मगर इस लक्ष्य की कोई संकीर्ण और अनुचित व्याख्या इन मदरसों को साम्प्रदायिकता और सामाजिक स्वार्थपरता का केन्द्र न बनाने पाएगी, और अनुचित पक्षपात इनकी दृष्टि से इस बात को न छिपा सकेगा कि अगर हम मुसलमान होने के नाते आज़ाद होने पर मजबूर हैं—अगर हम दुनियाँ से हर तरह की गुलामी को मिटाने पर मजबूर हैं—अगर हम जनता का ऐसा आर्थिक संगठन करना चाहते हैं, जिसमें अमीर और ग़रीब का भेद मनुष्यों की एक बड़ी संख्या को मानवीय अधिकार ही से न वंचित कर दे—अगर हम भौतिक महत्ता की अपेक्षा आध्यात्मिक महत्ता स्थापित करना चाहते हैं—अगर हम नस्ल और रंग के भेद-भाव को मिटाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं—तो इन सब कर्त्तव्यों को पूरा करने का अवसर सबसे पहले अपने प्यारे देश ही में मिलेगा, जिसकी मिट्टी से हम बने हैं, और जिसकी मिट्टी में हम फिर वापिस चले जायँगे। इसलिए हमारे इन नए मदरसों की शिक्षा नौजवानों के दिलों में समाज-सेवा की वह लगन पैदा करेगी कि जब तक इनके आस-पास, इनके अपने घर में ग़ुलामी रहेगी और ग़रीबी बनी रहेगी और निरक्षरता व बीमारियाँ रहेंगी, और दुराचार और निरुत्साह रहेगा, और निराशाएँ भी—ये तब तक सुख की नींद न सोएँगे, और अपने बस-भर इनको दूर करने में वे अपना तन-मन-धन सब न्यौछावर कर देंगे। ये रोटी भी कमाएँगे और नौकरियाँ भी करेंगे। पर इनकी नौकरी ख़ाली पेट की चाकरी न होगी, बल्कि अपने धर्म की और अपने देश की सेवा होगी, जिससे इनके पेट की आग ही न बुझेगी—इनके हृदय और आत्मा की कली भी खिल उठेगी। ये अपने धार्मिक लक्ष्य ही के कारण अपने देश की सेवा करेंगे—जिसे दुनियाँ कभी स्वर्ग कहती थी, पर जो आज असंख्य आदमियों के लिए नरक से कम नहीं; और उसे ऐसा बनायेंगे कि फिर उसके भूखे, बीमार, बेबस, निराश और ग़ुलाम निवासियों के सामने इन्हें अपने रहमान और रहीम, रज़्ज़ाक और करीम, हैय्यो क़्यूम ख़ुदा का नाम लेते हुए शर्म से सिर न झुकाना पड़ेगा, कि इन्हें कुछ की ज़्यादतियों और कुछ की कमियों

ने, कुछ के जुल्म और कुछ की असावधानी ने, आज इस दशा को पहुँचा दिया है कि इनका अस्तित्व, संकीर्ण दृष्टिकोण के लोगों को, उसकी खुदाई शान पर एक धब्बा-सा दिखाई देता है।

और यही नहीं, ये अपनी निःस्वार्थ सेवा के द्वारा स्वयं अपने देश-वासियोंको संकीर्ण राष्ट्रीय भावना के अभिशाप से भी बचाएँगे, और अपने देश को सारे संसार और मनुष्यता का सेवक बनाएँगे। हमारा देश अपनी आबादी के लिए दूसरों की बरबादी, अपनी उन्नति के लिए दूसरों की अवनति, अपनी ताक़त के लिए दूसरों की कमज़ोरी और अपनी आज़ादी के लिए दूसरों की ग़ुलामी का सामान कभी न करेगा, बल्कि जिस तरह हमारा हरेक व्यक्ति इस नए शिक्षा-विधान की सहायता से, अपनी सारी विशेष क्षमताओं का विकास करके, स्वयं अपने विकसित व्यक्तित्व को समाज-सेवा के लिए अर्पण कर देगा, उसी तरह हमारा देश अपनी शक्तियों को विकसित करके समस्त संसार और मनुष्यता की सेवा का गौरव प्राप्त करेगा।

आप कहेंगे कि यह शख़्स हमें भविष्य की कल्पित कहानियाँ क्यों सुना रहा है? माफ़ कीजिए, इसलिए सुनाता हूँ, कि बस इसी ओर आशा की एक उजली कोर दिखलाई पड़ती है। और हर जगह 'शायद' इसलिए लगाता जाता हूँ कि अपने आस-पास इन आशाओं में निराशाओं के निशान भी पाता हूँ। लेकिन एक बात दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ, और वह यह, कि यदि मुसलमानों को इस देश में एक स्वाभिमानी स्वतन्त्र समाज की तरह जीवित रहना है, तो इन्हें अपने राष्ट्रीय जीवन के पिछले पचहत्तर वर्षों के काम की कड़ी जाँच करनी होगी। पिछले प्रयत्नों के मूल में जो लक्ष्य कार्यान्वित हुआ था, उस पर ध्यान देना होगा और अगर उससे और ऊँचा लक्ष्य इनके हाथ आ गया, जैसा कि मुझे विश्वास है कि ज़रूर आएगा; तो फिर इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए और चीज़ों के अतिरिक्त अपना एक विशेष शिक्षा-विधान भी बनाना होगा; जो किसी दूसरे घटिया विधान की एक घटिया नक़ल न होगी; बल्कि वह हमारी एक विशेष मौलिक रचना होगी। हमें माध्यमिक शिक्षा के विधान से पहले सामान्य प्रारम्भिक शिक्षा

का विधान बनाना होगा, और उसको प्रचलित करना होगा। एक विशेष अवस्था आने पर बच्चों की प्रवृत्तियों को परखना होगा। फिर माध्यमिक शिक्षा के लिए एक साथ विभिन्न प्रकार के—शायद चार-पाँच प्रकार के मदरसे खोलने होंगे। इन मदरसों में उस संस्कृति के विभाग के अतिरिक्त, जो हर मदरसे की शिक्षा का विशेष साधन होगा—अपने धर्म, अपने इतिहास और अपनी भाषा की शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाने, और उसके लिए अध्यापकों का निर्माण करने में भी सावधानी बरतनी होगी। मानसिक विकास के लिए व्यक्ति-प्रधान-प्रणाली के साथ मदरसों के अन्दर और बाहर समाज-सेवा के अनेक अवसर भी जुटाने होंगे, किताबी शिक्षा का स्थान क्रियात्मक शिक्षा को देना होगा, कोरी जानकारी की अपेक्षा उचित मानसिक विकास, और कोरे ज्ञान की अपेक्षा अच्छे शील पर मुख्य रूप से ध्यान देना होगा, और अपने मदरसों को राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित करने की युक्तियाँ भी निकालनी पड़ेंगी।

तो, मैंने कठिन कामों की एक बहुत बड़ी सूची तैयार कर दी है। लेकिन ये तो वे ही काम हैं, जिनकी व्याख्या के लिए बहुत-कुछ छानबीन और खोज की जरूरत है। पहले इनमें से हर एक उद्देश्य की ठीक-ठीक परख कर लेना जरूरी है, और फिर इसके साधनों की खोज। इन पर आपके अच्छे-से-अच्छे दिमाग़ों की वर्षों की लगातार कोशिशें काम में लाई जाएँगी। ये सब कठिन काम हैं, लेकिन साथ ही करने के काम भी हैं। और मैं समझता हूँ, कि वास्तव में अगर कोई राष्ट्रीय समुदाय इन्हें करना चाहे, तो इनके करने वाले भी मिल सकते हैं। मेरी यह अभिलाषा है, कि यह कॉन्फ्रेंस अपने भावी कार्यक्रम में इन खोज के कामों को पूरा करने का लक्ष्य भी सम्मिलित कर ले। लेकिन मुझे मालूम नहीं कि ऐसा हो भी सकेगा या नहीं। अगर न हो सका, तो आज हम तो इस कॉन्फ्रेंस के जीवन के पचास वर्ष पूरे होने पर खुशी मना रहे हैं, डर है कि आने वाले पचास वर्षों के बाद, भगवान् न करे, इस पर दो आँसू बहाने वाले भी मौजूद न होंगे! राष्ट्रीय शिक्षा की वर्तमान दुर्व्यवस्था शायद राष्ट्र के अस्तित्व ही

को मिटा डाले। और फिर याद भी उन्हीं की की जाती है, जो कठिन काम अपने सिर ओढ़ लेते हैं, या तो तूफ़ान में तूफ़ान का सामना करते हैं, या तूफ़ान से पहले उससे लड़ने की तैयारी। हमारे पिछले काम करने वालों ने भी जो काम उठाया था वह उस वक्त कुछ बहुत आसान काम न था। और यह होते हुए भी कि हम धीरे-धीरे अपने पिछले पचास साल के काम पर असन्तोष प्रकट करते हैं, और उसका लक्ष्य भी आज हमें गिरा हुआ दिखाई पड़ता है, लेकिन जिन लोगों ने उस काम को शुरू किया था उनके युग की विवेकहीनता को देखिए और राष्ट्र की उस विशृङ्खलता पर ध्यान दीजिए जो उन्होंने स्वयं देखी थी, और उनकी उन कोशिशों में भी जो आज हमें ज़्यादा ठीक नहीं जँचतीं—राष्ट्र के विरोध और परिस्थितियों की प्रतिकूलता का अनुमान लगाइये—तो पता चलता है कि बौनों की दुनियाँ में वे लोग सचमुच देव थे! इनके काम की आलोचना करना, भविष्य की राह खोजने के लिए, बड़ा आवश्यक है, हितकर भी है और इससे कभी झिझकना न चाहिए। मगर उन व्यक्तियों की प्रतिष्ठा, उनके संकल्पों की दृढ़ता, उनकी उदारता और उनकी सदाशयता की शत्रु भी सराहना करते हैं। उनके कामों की आलोचना कीजिए, और बन पड़े तो उनसे कहीं अच्छा काम भी कर दिखाइए। मगर उनके साहस और निःस्वार्थ सेवा की पुण्य-स्मृति पर कृतज्ञता के दो फूल भी ज़रूर चढ़ाते जाइए:

"आवाज़ए ख़लील ज़े बुनियादे काबा नीस्त।
मशहूर गश्त जाँ के दरातिश न कू नशिस्त॥"

(देवदूत इब्राहीम की कीर्ति काबे की नींव डालने के कारण नहीं है, वरन् उनकी अमर ख्याति का मुख्य कारण यह है कि वे धधकती हुई आग में भी शान्ति से बैठे रहे।)

काश, आज की बदली हुई परिस्थितियों में हम भी उसी साहस से काम करें, और अपने राष्ट्रीय जीवन की सुरक्षा और समुन्नति के लिए एक नये शिक्षा-विधान के निर्माण का कठिन और आवश्यक कार्य शुरू कर दें!

[यह भाषण ऑल इण्डिया मुस्लिम एजूकेशनल कॉन्फ्रेंस की जुबली के अवसर पर २९ मार्च, १९३७ ई० को दिया गया।]

तिब की शिक्षा

सज्जनो !

आपका आदेश था, उपस्थित हो गया हूँ, और आभारी हूँ कि आपने मुझे आमन्त्रित किया और इस विशाल समारोह में भाषण देने का सम्मान प्रदान किया। परन्तु यह निवेदन करता हूँ, कि अभी तक मैं ठीक-ठीक नहीं समझा कि इस गवर्नमेंण्ट तिब्बिया कॉलिज के उपाधि-वितरण के अवसर पर मैं इस कार्य के लिए क्यों बुलाया गया हूँ ! इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश की, तो सोचा कि मेरे नाम के साथ जो कुछ दिनों से 'डाक्टर' की उपाधि लग गई है, उससे तो कहीं धोखा नहीं हुआ ! कभी-कभी देहातों और क़स्बों में लोगों ने मुझसे नब्ज़ देखने और नुस्खा लिखने के लिए इसी धोखे में आकर कहा है। लेकिन हमारे देश में तो यूनानी हकीमों और एलोपेथी के डाक्टरों में कुछ ऐसी बहुत बनती भी नहीं कि इस धोखे में मुझे यहाँ बुला लिया जाता।

फिर सोचा, कि शायद यह कारण हो कि एक शिक्षा-संस्था का उत्सव है, और मैं भी एक शिक्षा-संस्था से सम्बन्धित हूँ; अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध, शिक्षा-दीक्षा का काम और उसके दायित्व लगभग एक-ही-से होते हैं; चाहे विद्यालय में अर्थ-शास्त्र, राजनीति, दर्शन और साहित्य की शिक्षा दी जाती हो, या शरीर-विज्ञान (Physiology) और तिब्ब व सर्जरी (चीरफाड़) की, लेकिन आजकल हर कला का जानकार अपनी-अपनी कमली में कुछ ऐसा मस्त रहता है, और विद्यालयों में भी कुछ ऐसी परस्पर स्पर्धा-सी दिखलाई पड़ती है; कि उसका भी पूरी तरह विश्वास नहीं

हुआ ।

फिर अनुमान लगाया कि शायद मुझे सम्भावित रोगियों के उस समुदाय का प्रतिनिधि समझकर आपने निमन्त्रण दिया हो, जो आपकी इस अद्भुत विद्या से लाभ उठाता है, और आपके नए उपाधि-धारियों के लिए, कम-से-कम कुछ साल, और आपके कुछ रूढ़िवादी साथियों के लिए जीवन-भर, प्रयोगशाला बना रहता है। लेकिन हमारे देश में सच्चे और सम्भावित रोगियों की भी कुछ ऐसी कमी नहीं है कि आपकी दृष्टि बस मुझ पर ही पड़ती !

किसी एक कारण पर पूरी तरह ध्यान न जमने से मैंने सोचना बन्द किया और निश्चय किया कि जो तीन कारण मेरी समझ में आए हैं, उन्हीं-को ठीक मान कर आपके सामने कुछ निवेदन करूँ। पहली बात यह कि आधुनिक पश्चिमी तिब और यूनानी तिब में क्या सचमुच कोई मौलिक अन्तर है ? दूसरे यह कि मेरी राय में यूनानी तिब की शिक्षा में किन बातों का विशेष रूप से ध्यान होना चाहिए, और तीसरे यह कि हिन्दुस्तान का एक सामान्य नागरिक उन हकीमों से, जो आपके मदरसे से पढ़कर निकलते हैं, क्या आशा करता है ?

मेरा विचार यह है कि आधुनिक पश्चिमी तिब और यूनानी या इस्लामी तिब से आदमी जितना अनभिज्ञ होगा, उतना ही इनके अन्तर पर जोर देगा। इनको जितनी अच्छी तरह जानता होगा, उतना ही इस बात से भी परिचित होगा कि ये वास्तव में एक छोटी-सी बात में परस्पर भिन्न हैं। सच तो यह है, कि पश्चिमी तिब इस्लामी तिब की बेटी है। बेटी ने माँ की बहुत-सी चीजें ले ली हैं। मगर कुछ छूट भी गई हैं। बेटी बड़े घर ब्याही है। साधनों की कमी नहीं है। उसने बहुत-कुछ नई दौलत हासिल कर ली है। शुरू में नई दौलत का कुछ घमंड था, कुछ कम उम्र होने की ना-तजुर्बेकारी। माँ की जो चीजें रह गईं थीं उन्हें कुछ तुच्छ समझने लगी थी, या उनसे उदासीन हो गई थी। मगर है अक़्ल की तेज और सावधान ! अब भी उन चीज़ों को ले सकती है और शायद ले ही लेगी। माँ कुछ

भाग्य के फेर में पड़ गई, समय बदल गया, साधनों की भी कमी रही। इसलिए जो कुछ अपने पास था, उसको भी सँभाल कर न रख सकी। दुर्दिनों में कुछ साहस भी साथ छोड़ देता है, नई चीज़ों को जुटाने का उत्साह भी नहीं रहता, कुछ स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। इसलिए बेटी की चीज़ों की तरफ़ एक आँख देखना भी उसे न भाता था।

मगर बेटी की सम्पत्ति ज्ञान की सम्पत्ति है, जिस पर किसी एक का अधिकार नहीं होता। यह उसी को मिलती है, जो इसे बरतने को तैयार हो और उसी के पास रहती है, जो इसे बढ़ाने में यत्नशील हो, और दूसरों को देने में तत्पर हो। उधर माँ का स्वभाव भी कुछ सुधर रहा है, और ज़माने का रंग भी। यह क्यों न इन नई चीज़ों को अपना लेगी?

वास्तव में अपनाने के बाद भी दोनों में भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण कुछ अन्तर रहेगा, सो उससे कोई हानि नहीं। उदाहरणतः बेटी के घर जड़ी-बूटियाँ कम होती हैं, प्रायः बाहर से लानी पड़ती हैं। सचमुच वह इस कोशिश में रहती है कि उनका सत्त्व निकाले जिसे आसानी से इधर-उधर भेज सके। फिर स्वभाव भी कुछ व्यवसाय-प्रिय है, पूँजीवादी शासन से सम्बन्धित है। उसकी दृष्टि तो, मालूम ही है कि, हरदम हर चीज़ से लाभ उठाने पर लगी रहती है। दवाओं से वास्तव में मानव-मात्र का दुःख-दर्द कम करना है। पर साथ ही नफ़ा भी तो कमाना है, और जहाँ तक हो सके ज़्यादा नफ़ा! बड़े पैमाने पर कारोबार करना है। कारख़ाने में साल के बारह महीने एक ही दवा बनती रहे तो क्या कहना? ऐसा करने में प्रकृति की ही मुख्य वस्तुओं से प्रयोजन हो तो कठिनाई होती है। इसलिए यों भी पूँजीवादी शासन की आर्थिक दृष्टि पूँजी बनाने के पूरे मैदान में चेतन से जड़ की ओर लगी है। वह मकान और पुल और जहाज़ों में लकड़ी की जगह लोहा लगाना चाहता है, सरसों और तिली के तेल की जगह मिट्टी के तेल से काम चलाता है, और फूलों की जगह तारकोल में रंग और गन्ध के ख़ज़ाने खोज निकालता है। यह स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि इस पर है कि जड़ी-बूटियों से मुक्ति ही मिले और बहुत मामूली चीज़ों से

काम निकल जाए तो बहुत-ही अच्छा हो। वनस्पति के तत्वों को भी रासायनिक विधि (कीमियाबी तरीक़) से तैयार किया जा सके, तो अच्छा हो। और यह न हो सके तो जड़ी-बूटियों के सत्त्व (जौहर) निकाल-निकालकर, और यों वज़न घटाकर, और माल में समानता लाकर, उनकी बिक्री का क्षेत्र तो बढ़ा ही लिया जाये।

माँ का घर जड़ी-बूटियों से भरा पड़ा है। उनमें से बहुतों को तो बेटी ने अभी बरता ही नहीं। मगर माँ के देश में चारों ओर निर्धनता फैली हुई है। ये मँहगी दवाएँ बेचकर लाभ उठाने की सोचें, तो यहाँ के ग़रीब तो दवा के लिए तरस-तरस कर ही मर जाएँ। यह अगर उनका प्राकृतिक रूप बदल कर टके सीधे करने की चिन्ता न करे, तो क्या बुरा है? फिर दवाओं को प्राकृतिक रूप में देने से उनकी बहुत-सी हानियों से भी बचाव हो जाता है। माँ की दवाओं का खज़ाना बेटी से कहीं बड़ा है। उसकी दवाओं के असर सदियों के तजुर्बे से जाँचे और परखे जा चुके हैं। बेटी की नई दवाओं को बरतते अभी दिन ही कितने हुए हैं? ये वास्तव में कुछ बीमारियों के लिए तो रामबाण हैं। मगर अभी किसे मालूम है कि इनके प्रयोग से कहीं जीवन की अवधि पर तो असर नहीं होता, या शरीर-रचना पर इनसे कोई और बुरा प्रभाव तो बाद को नहीं पड़ता। इसलिए बेटी को अपनी चीज़ों पर बहुत इतराना न चाहिए, और माँ को भी इनका अनुभव करने से अधिक शरमाना न चाहिए। बात यह है कि दवाओं के सम्बन्ध में आपस के लेन-देन का, और इस्लामी तिब को उसमें कुछ देने का ही ज़्यादा मौक़ा है। इसके काम करने वालों का कर्त्तव्य है कि जो अनगिनती जड़ी-बूटियाँ उनके उपयोग में हैं और जिनके सम्बन्ध में उनका हज़ारों वर्षों का अनुभव है, उनके प्रभाव की नवीन वैज्ञानिक खोज करें, और उनकी विशेषताओं से पश्चिमी तिब को सम्पन्न करें। उनकी नई प्रणाली के द्वारा रासायनिक परीक्षा करके उनके प्रभाव और विशेषताओं को निश्चित रूप दें। इस्लामी तिब ही ने आधुनिक तिब की नींव डाली थी। जब योरुप सो रहा था, तो इसने यूनानियों के ज्ञान-कोष की रक्षा की, और उसकी उन्नति करके उसे

कहाँ से कहाँ पहुँचाया, और फिर योरुप वालों के हाथों सौंप दिया। आज भी वह अपने दवाओं के खज़ाने से पश्चिमी तिब्ब को बहुत-कुछ दे सकती है। पिछले कुछ वर्षों में जो काम इस सम्बन्ध में हमारे देश में हुआ है, उसकी ओर विशेषतया आयुर्वैदिक और यूनानी तिब्बी कालिज, देहली के शोध-विभाग में डाक्टर सलीमुज़्ज़माँ साहब सिद्दीकी की जाँचों ने हमारा और पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। हमें आशा करनी चाहिए कि यह सम्बन्ध बढ़ेगा, और हम अगर अपने पुराने शिष्यों से बहुत-कुछ लेंगे, तो उन्हें अभी कुछ-न-कुछ दे भी सकेंगे।

आपकी तिब्ब और आधुनिक तिब्ब की सबसे बड़ी सफलता तो यह है कि ये 'निरीक्षण' पर आधारित हैं। यूनानियों और उनके बाद मुसलमानों ने इस विद्या की सबसे बड़ी सेवा यही की है कि अन्ध-विश्वासों के गोरखधन्धों से निकालकर जाँच और निरीक्षण पर इसकी बुनियादें डालीं। बक़रात और जालीनूस से कुछ अधिक ही राज़ी और इब्नेसीना तिब्ब के समर्थकों में हैं कि उन्होंने इस विद्या को वैज्ञानिक आधार पर स्थापित किया और फिर उसी आधार से यूरोप ने इसे और ऊँचा उठाया। इस वैज्ञानिक आधार के लिए रोग और चिकित्सा का सूक्ष्म निरीक्षण बहुत आवश्यक है। आज-कल आधुनिक तिब्ब जिस विस्तृत रूप में विविध निरीक्षणों को एकत्र कर रही है, उससे मनुष्य को आश्चर्य होता है। लेकिन आपके पास भी हज़ारों वर्षों के एकत्र किये हुए निरीक्षणों का भण्डार है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है, कि इसका बहुत बड़ा भाग निरीक्षकों के साथ ही समाप्त हो गया, फिर भी आपकी पारिवारिक और शिक्षा-सम्बन्धी परम्पराओं में अभी बहुत-कुछ शेष है। और आपकी पुरानी पुस्तकों में विभिन्न देशों और विभिन्न परिस्थितियों में एकत्र किये हुए निरीक्षणों का इतना बड़ा संग्रह है, कि अगर आज वह फिर दुनियाँ के सामने लाया जाए, तो सम्भवतः वह तिब्ब की विद्या को समुन्नत करने में और उसके निरीक्षकों को नई राहें सुझाने में बड़ा योग दे सके। हमारा कर्त्तव्य है कि उन निरीक्षणों की ऐसी व्याख्याओं पर बल देने की अपेक्षा, जिनको बाद के अधिक समीचीन निरीक्षणों ने

निर्मूल सिद्ध कर दिया है, स्वयं उनको अपने हाथ में लें और उन पर वैज्ञानिक रीति से काम करें। बीमारियों की पहचान और उनके इलाज के सम्बन्ध में आपके आचार्यों की पुस्तकों में जो लक्षण लिखे हैं, जैसे अबूबकर, मुहम्मद ज़करिया राज़ी की 'हावी' में जिसके हाथ के लिखे क़ल्मी-नुस्खे जो आज यूरोप के लगभग आधी दर्जन पुस्तकालयों में बिखरे पड़े हैं, और किसी सच्चे श्रमशील अधिकारी के प्रयत्न की राह देख रहे हैं—उनसे आज भी बड़े लाभदायक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। और यह जो आपकी नाड़ी परखने की कला है, इसमें हज़ारों वर्षों के निरीक्षणों का सार मौजूद है, और इन चीज़ों को दिल की बीमारियों के पश्चिमी विशेषज्ञ आज फिर से खोज रहे हैं। जिस चीज़ पर, आज से कुछ वर्ष पहले, वे और उनसे ज़्यादा उनके अबोध अनुयायी हँसा करते थे, उसकी बारीकियों को ढूँढने में वे आज स्वयं नित्य नए यन्त्रों (आलात) की सहायता लेकर संलग्न हैं। आपकी कला अपने हज़ारों वर्षों के निरीक्षण के द्वारा, इस नई खोज के लिए, सफलता की अनेक राहें बता सकती है।

कहते हैं, कि प्रत्येक कला पर उसके सांस्कृतिक (माशरती) वातावरण का भी प्रभाव होता है। आपकी तिब जिस ज़माने में बढ़ी थी—वह व्यक्ति से अधिक समाज का या 'व्यक्ति' से अधिक 'समष्टि' की महत्ता का युग था। पश्चिमी तिब की उन्नति उस समय हुई, जब यूरोप व्यक्तिवाद के प्रभाव से गुज़र रहा था। प्रजातन्त्रवादी राजनीति, लिबरल फ़्लॉसफ़ी, अनुगमन विज्ञान (Inductive Science) इन सब की माँग यह थी कि ध्यान समष्टि से हटकर व्यष्टि की ओर लग जाए। इस रुझान के पैदा करने में अरबी और इस्लामी मानसिक प्रभावों का भी कुछ योग अवश्य था, और यह चीज़ वास्तव में है भी बहुत उचित! मगर 'अति' तो हर बात की बुरी होती है। होते-होते हुआ यह कि व्यष्टि के प्रति ध्यान देने से समष्टि की उपेक्षा हो गई और लोग पेड़-पौधों के देखने में ऐसे लीन हुए कि जंगल ही आँखों से ओझल हो गया। तिब में भी यही हुआ। रोगों की एकांगी जाँच, और असाधारण बीमारियों के विशेषज्ञों के अलग-अलग

प्रयोगों का परिणाम यह हुआ कि रोगी के पूरे व्यक्तित्व से ही ध्यान हट गया। आपकी तिब का मार्ग उस दिशा में भिन्न था। अफ़लातून के साथ अपने एक प्रसिद्ध वार्त्तालाप में सुकरात ने पूछा है, "क्या तुम समझते हो कि समष्टि के महत्त्व को जाने बिना तुम आत्मा (रूह) के महत्त्व को समझ सकते हो?" फ़ीदास ने जवाब दिया, "जी, बक़रात का कहना तो यह है—आत्मा तो आत्मा है—शरीर का महत्त्व भी समष्टि के रूप में ही समझा जा सकता है।"

आज पश्चिमी जीवन के साँचे बदल रहे हैं। जीवन के हर विभाग में इस समय 'व्यष्टि' से 'समष्टि' की ओर ध्यान दिया जा रहा है। इसलिए मेरा अपना विचार तो यह है कि पश्चिमी तिब भी, जो एक सही राह पर कुछ अनुचित रूप से बढ़ गई थी, अब वह वहाँ से लौटेगी और आपकी तिब की यह विशेषता कि रोगी के पूरे व्यक्तित्व को दृष्टि में रखकर उसके दुख-दर्द की अधूरी चिकित्सा करती थी—फिर आधुनिक तिब के प्रयोग में भी दिखलाई देगी; और क्या आश्चर्य है कि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का वह दृष्टिकोण, जिससे आप रोग के निदान में और चिकित्सा-प्रणाली में बहुत-कुछ सहायता लेते हैं, फिर आधुनिक तिब में अधिक व्यापक, तर्कपूर्ण और स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाए।

लेकिन जहाँ आपकी ओर से आधुनिक पश्चिमी तिब पर इस प्रकार के प्रभाव पड़ सकते हैं, वहाँ यह भी आवश्यक है कि आधुनिक तिब ने जिन पुरानी भूलों का अन्त कर दिया है, जो नई बातें मालूम की हैं, उन्हें आप उदारता से अपना लें; शोध (research) की आधुनिक प्रणालियों को स्वीकार करें, क्योंकि ये तो आप ही की पुरानी किन्तु भूली हुई प्रणालियाँ हैं, और बोलचाल की नई वैज्ञानिक शैलियों को सीखें—अपनी समझाएँ और दूसरे की समझ सकें। पारिभाषिक शब्दों की परस्पर विभिन्नता के कारण न जाने कितने पर्दे पड़ गए हैं। एक ही बात कहते हैं—और एक-दूसरे को विरोधी समझते हैं। आपके पास जो-कुछ है—वह दीजिए और उनके पास जो है वह लीजिए। ज्ञान उसकी सम्पत्ति होता है जो उसे

खोजता है और उपयोग में लाता है। अपनी पुरानी पुस्तकों को छान डालिए, उनसे भी बहुत-कुछ सीखा जा सकता है—उसे सीखिए और दूसरों को सिखाइए। दूसरों की पुस्तकों में जो-कुछ है, उसे अपनी भाषा में ढाल दीजिए। आपके पूर्वज अगर उसी से सहमत होते जो उनके पास था, तो आपकी कला की क्या दशा होती ? उन्होंने तो हुनेन इब्ने इसहाक़ और ईसा इब्ने याहिया और साबत और इब्राहीम के साथ अनुवादकों की एक बड़ी सेना सजा रखी थी, और जहाँ से जो-कुछ पल्ले पड़ा उसे बस अपनी भाषा में ढाल दिया और फिर उसी के अनुसार आगे-क़दम बढ़ाया था। आज यूनानियों की बहुत-सी खोजों का पता दुनियाँ को अरबी अनुवादों ही के द्वारा मिल सकता है। आपकी कला के जन्मदाता जालीनूस की शरीर-विज्ञान की पुस्तक आज यूनानी भाषा में मौजूद है और अरबी अनुवादों ही के द्वारा वह दुनियाँ तक पहुँच सकी है। दुनियाँ के परिवर्त्तनों का अनुमान पहले से कौन लगा सकता है—"क्या हो!" शायद आधुनिक पश्चिमी तिब की चीजें आने वाली नस्लों को भारतीय अनुवादों के द्वारा मिल सकें। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब कि आप में ज्ञान प्राप्त करने की वही लगन हो, जो आपके पूर्वजों में थी और सीखने का वही उत्साह हो, जो हर जगह और हर व्यक्ति से अच्छी बात सीखने को उद्यत करता है। इस समय हमारे देश में दोनों दलों के बीच एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण और निष्पक्षता की आवश्यकता है। ये पैदा हो जाएँ तो दोनों एक-दूसरे से लाभ उठाएँ, और तिब्बिया स्कूल में उपाधि-वितरण के अवसर पर किसी डाक्टर को और मैडीकल कॉलिज के उत्सव में किसी यूनानी हकीम को निमन्त्रित करने में, दोनों में से किसी को, कोई संकोच न हो!

मैंने ऊपर जिन विशेषताओं की चर्चा की है, यानी अपने पर भरोसा और दूसरे से सीखने की तत्परता, व्यापक दृष्टिकोण और निष्पक्षता—इन्हें पैदा करने का काम बहुत-कुछ तिब की शिक्षा-संस्थाओं का है। आज्ञा दीजिए, कि यूनानी तिब की शिक्षा के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार संक्षेप में निवेदन करूँ। तो, पहली बात जिसे कहना आवश्यक समझता हूँ, यह

है कि इन विद्यालयों को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि तिब एक कला है—ज्ञान पर आधारित ! इसकी शिक्षा पाने वाले को इसे एक ज्ञान-कोष की भाँति समझना और कला की तरह सीखना चाहिए। ज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज करना है, दूसरे के कथन पर यह सन्देह करता है, फिर अपने निरीक्षण और चिन्तन के द्वारा उस सन्देह के निवारण का उपाय ढूँढ़ता है, और जब उसे पा जाता है तभी निश्चिन्त होता है और कला तो किसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए उचित साधनों को खोजती है और उन्हें व्यवहार में लाने की युक्तियाँ भी निकालती है। कला बतलाती है कि यह कैसे हो सकता है; ज्ञान बतलाता है कि क्यों ऐसा हुआ ? तिब में ज्ञान के बिना कला अन्धी बनी रहती है और कला के बिना ज्ञान व्यर्थ होता है। एक आदर्श तिब्बी विद्यालय का यह कर्त्तव्य है कि वह तिब के ज्ञान और तिब की कला दोनों की ही शिक्षा दे।

यह आवश्यकता इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है कि इस कला के ज्ञान-शून्य दावेदारों की दुनियाँ में कभी कमी नहीं रही। हमेशा से हर व्यक्ति ने इसका उपयोग किया है, और आज भी लगभग हरेक रोगी और तीमारदार नुस्खों को बदलवाने की माँग करना और रोग के निदान में सम्मति देना जैसे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। किसी रईस का क़िस्सा है कि उन्हें एक बार यह ख़्याल आया कि मालूम करें कि शहर में किस व्यवसाय के लोग सबसे अधिक हैं। उन दिनों जन-गणना के आँकड़े प्रकाशित नहीं हुआ करते थे। उन्होंने अपने मित्रों और साथियों से पूछा; किसी ने कुछ बतलाया, किसी ने कुछ। दरबार के विदूषक ने कहा, "हकीम सबसे ज़्यादा हैं।" पर हकीम उस शहर में ऐसे बहुत थे नहीं। सबने उसकी बात का विरोध किया, तो विदूषक ने कहा, "बहुत अच्छा, ज़िन्दगी है तो किसी दिन अपने कहने का सबूत सामने रख दूँगा।" दूसरे ही दिन सुबह को उसने अपने चेहरे पर ऊपर से नीचे तक एक चौड़ी-सी पट्टी लपेटी और घर से निकल पड़ा। पहला ही आदमी जो दरवाज़े पर मिला, उसने पूछा, "क्यों भाई, क्या हुआ ?" विदूषक ने कहा, "दाढ़ में

दर्द है, रात-भर पलक-से-पलक नहीं लगी।" जवाब मिला, "भाई, एक बड़ी ही अच्छी दवा है इसकी, हजार बार परखी जा चुकी है, अमुक-अमुक चीजें लो और पीसकर मिला लो, भला दर्द खड़ा तो रह जाए!" विदूषक ने एक कागज पर कुछ लिखा, जैसे कि दवा का नाम लिख रहा हो, मगर लिखा था हकीम जी का नाम। कुछ क़दम ही आगे बढ़ा होगा, एक और बुज़ुर्ग मिले, "अरे भाई! यह क्या?" विदूषक ने फिर वही कहानी सुनाई। उत्तर मिला, "भाई इसकी तो बड़ी अच्छी दवा मेरे पास है, एक साधु ने दी थी, अमुक-अमुक चीजें लेकर पानी में उबाल लो और उससे ग़रारा कर डालो। एक ही बार में दर्द दूर हो जायगा।" विदूषक ने उनका भी नाम टाँक लिया। रास्ते भर क़दम-क़दम पर कोई साहब मिलते और कोई-न-कोई आजमाया हुआ नुस्खा बतला जाते, और यह उन हकीमों के नाम बराबर नोट करता चलता था। होते-होते रईस साहब के महल पर पहुँचा। नौकरों-साथियों में जो भी मिलता है, वह पूछता है "क्या हुआ?" और तुरन्त एक आजमाई हुई दवा बतला देता है। इसने उन सब के नाम भी लिख लिए। इतने में रईस साहब से भी भेंट हो गई। बोले, "अरे भाई यह क्या?" कहा, "हुजूर, दाढ़ में बहुत दर्द है। रात-भर सोया नहीं, जी चाहता है कि दीवार से सिर दे मारूँ।" "नहीं भाई" रईस साहब बोले, "यह भी कोई बीमारी है, इसमें क्या रखा है? उठाना तो मेरी लाल नोटबुक (ब्याज), इसके तो दसियों आजमाए हुए नुस्खे हैं। लो, ये दवाएँ मँगा लो। सबको पीसकर पोटली बना लो और गरम करके थोड़ा सेंक दो, बस दर्द ग़ायब!" विदूषक ने रईस साहब का नाम भी लिख लिया, पट्टी खोल दी और हाथ जोड़कर नम्रता से बोला, "हुजूर, जब मैंने कल यह कहा था कि तिब का पेशा सबसे ज़्यादा आम है, खुद मुझे भी खबर न थी कि इतने हकीम होंगे। घर से यहाँ तक आते-आते कोई सौ से ऊपर तो हकीम मुझे मिल गए, जरा फ़हरिस्त पर नजर डालिए, सरकार का नाम भी तो चोटी के हकीमों के साथ लिखा हुआ है।

यह दशा कुछ विशेष रूप से हमारे ही देश की नहीं, न यह अनपढ़ और अज्ञान लोगों तक ही सीमित है। जैसे कि इंग्लैण्ड के वैज्ञानिकों की सबसे प्रमुख सभा रॉयल सोसायटी के संस्थापक, विश्लेषणात्मक रसायन-शास्त्र के जन्मदाता, गैसों के फैलाव के उस प्रसिद्ध सिद्धान्त को खोजने वाले जो आज तक उनके नाम से प्रचलित है, यानी रॉबर्ट बोइल ने भी अभी ढाई-सौ साल भी नहीं हुए, ऐसे ही अनुभूत नुस्खों का एक संग्रह प्रकाशित कराया था, जो बहुत-सी बेकार और बड़ी हानिकारक दवाओं से भरा पड़ा था। इसे भी कुछ बहुत समय नहीं हुआ कि इंग्लैण्ड के एक मशहूर अमीर (Sir Kenelme Digby) ने एक "सफ़ूफ़े हमदर्दी" ढूँढ़ निकाला था कि किसी घायल आदमी के खून में सने हुए कपड़ों को उस सफ़ूफ़ के घोल में भिगोने से घाव अच्छे हो जाते थे। उस सफ़ूफ़ को हजारों घायलों ने इस्तेमाल किया होगा और सैकड़ों अँग्रेजों के प्रमाण-पत्र इसकी उपयोगिता का समर्थन करते हैं। खून से सने हुए कपड़ों को इस घोल में भिगो दिया और बस दर्द घटने लगा, घाव पुरना शुरू हो गया। खुद हमारे देश में ही और हमारे ही समय में ऐसे ऊँचे इलाज करने वाले हो चुके हैं, जिनकी तस्वीर को सुबह-सवेरे देखने से हजारों बीमार अच्छे हो जाते थे। सैकड़ों भले आदमी इस बात के गवाह हैं।

मैंने इस खतरे की चर्चा इसलिए कुछ विस्तार से की है कि अगर आपकी शिक्षा इसका प्रबन्ध न कर सकी, तो मानो उसका मुख्य उद्देश्य ही पूरा नहीं हुआ। आपकी कला निरीक्षण और अनुभव पर निर्भर है। लेकिन बक़रात कहता है, "निरीक्षण बड़े धोखे देता है, और ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी कठिन है।" आपकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि वह ठीक प्रकार से निरीक्षण करने की क्षमता पैदा करे, उसके धोखों से बचने और सही निरीक्षण से सही नतीजों पर पहुँचने का अभ्यास कराए। ठीक देख सकना और तर्क-बुद्धि से सोचना-समझना सिखा दीजिए, तो आपने जैसे शिक्षा का तीन-चौथाई काम पूरा कर दिया। यह ऊपर जिन जिन लोगों की चर्चा हुई वे सब जान-बूझकर धोखा न देते होंगे, और जो

इसकी बात मानते थे वे सब बिलकुल गधे न होंगे। बात बस इतनी है, कि तर्क-बुद्धि से सोचने की विशेषता मनुष्यों में प्रायः नहीं होती। शिक्षा भी प्रायः अपने इस प्रमुख कर्त्तव्य की ओर उदासीन रहती है, और समझती है कि कुछ किताबों को रटा देने, कुछ नुस्खे लिखा देने, कुछ अजीब-अजीब नाम याद करा देने से ही आदमी शिक्षित हो जाता है, जब कि शिक्षा का उद्देश्य है मस्तिष्क को विकसित करना और उसमें क्रम-बद्धता और निरीक्षण के धोखों से बचने की क्षमता उत्पन्न करना! प्रवंचना और आत्मविश्वासहीनता के जो उदाहरण ऊपर दिये गए हैं, उनमें बस यही भूल प्रायः होती है कि अगर कोई चीज किसी दूसरी चीज के बाद सामने आए तो लोग पहली को कारण (Cause) और दूसरी को परिणाम (Effect) समझ बैठते हैं। मालूम यह होता है, कि यह उसके बाद हुआ है इसलिए उसकी वजह से हुआ होगा, यद्यपि तर्क-बुद्धि से सोचने वाला हमेशा यह जानना चाहता है कि क्या यही परिणाम बिना पहली बात के भी निकलता या नहीं, या यह कि कहीं यह परिणाम उस पहली बात के होते हुए भी तो नहीं निकला। इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए वह अपने निरीक्षण को अनुभव के द्वारा परखता है, कुछ परिस्थितियों को बदलता है, कुछ को यों ही छोड़ देता है, और इस प्रकार धीरे-धीरे कारण (इल्लत) और परिणाम (मालूल) के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाता है।

अगर आप अपने शिष्यों को तिब की तमाम किताबें घुटवा डालें, लेकिन उनमें निरीक्षण और निरीक्षण को जाँचने की प्रवृत्ति पैदा न करें, तो आप तिब की शिक्षा नहीं देते, अताई बनाते हैं। आपकी कला में इसका खतरा और अधिक इसलिए है कि यह अधिकतर निरीक्षण पर निर्भर है। अगर विज्ञान का सहारा इसे न हो तो यह कला धीरे-धीरे तिब के दर्जे से अताई के दर्जे पर पहुँच सकती है, और अताई से जान का खतरा तक बन सकती है। और हमारे देश में तिब्बी शिक्षा की दुर्व्यवस्थाओं ने इस कला को इन दुरवस्थाओं तक पहुँचाने में क्या कमी की है? आपका कर्त्तव्य है कि इसे इसके ज्ञान-गौरव से गिरने न दें, बल्कि इसे और अधिक उन्नत बनाएँ।

इसके लिए जरूरत है कि बजाए इसके कि सब कुछ थोड़ा-थोड़ा बताया जाए, कुछ चीजें अच्छी तरह सिखाई जाएँ। पाठ्यक्रम को हर अनावश्यक वस्तु से भर देने की अपेक्षा मौलिक रासायनिक ज्ञान, शरीर-विज्ञान और शारीरिक क्रिया का विद्यार्थियों को गहरा बोध कराया जाए, केवल वक्त काटने और इम्तिहान पास करने के लिए नहीं, बल्कि वास्तव में उनके मौलिक सिद्धान्तों से विद्यार्थियों को पूर्ण परिचय हो जाए। इन विभिन्न प्रकार के ज्ञानों की जिस तरह वृद्धि और उन्नति होती है, वे अगर उसके गुर को समझ लें और साधारण प्रयोगशालाओं तथा सर्जरी की प्रयोग-शालाओं में उन विधियों को कार्यान्वित भी करें, जिन पर चलकर कला के अध्यापकों ने कमाल हासिल किया है, तो बड़ी बात हो। इन राहों पर चलने का समय तो सारी उम्र मिलता रहेगा, लेकिन उन पर चलने की क्षमता और लगन विद्यार्थी-जीवन में ही पैदा कर देनी चाहिए। यह ज्ञान विस्तृत न हो तो न हो, मगर गहरा जरूर हो, क्योंकि इसकी गहराई आपके विद्यार्थियों को अताई होने के उथलेपन से बचाएगी।

और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है, कि आपको किताबों की शिक्षा से कहीं अधिक ध्यान क्रियात्मक शिक्षा की ओर देना चाहिए। निरीक्षण और अनुभव के अभ्यास का अवसर विद्यार्थी को शफ़ाख़ाने में मिलेगा और सक्रिय रूप से इलाज और देखभाल करने का भी। यहीं उसके ज्ञान की जड़ें भी मजबूत होंगी और कला में निपुणता भी प्राप्त हो सकेगी। आज पश्चिमी तिब में जैसे प्रयोग-शालाओं और शफ़ाख़ानों की व्यवस्था होती है, कोई कारण नहीं कि इससे कम दर्जे पर इस्लामी तिब की संस्थाओं में हो। इस्लामी तिब ने जिन दिनों यूनानियों के इल्म को चार चाँद लगाए थे, तब उसकी शिक्षा के लिए भी ये ही उपकरण जुटाए जाते थे। आज से हजार साल पहले के उन शफ़ाख़ाने का हाल मालूम कीजिए जो अहमद-बिन-तौलून ने काहिरा में स्थापित किया था, फिर मारिस्तानुल कबीरुल मंसूरी का हाल पढ़िये, जो सन् १२८४ ई० में वहीं क़ायम हुआ। उसके व्यय का अनुमान तो कीजिए, हर रोग के रोगियों के लिए अलग-अलग

रहने के प्रबन्ध का विवरण देखिए, बीमारों के खाने की तैयारी की चर्चा सुनिए, शफ़ाखाने के साथ पढ़ाने के कमरों का इंतज़ाम देखिए, दवाओं के खास खज़ानों की जानकारी कीजिए, तो जान पड़ता है कि २०वीं शताब्दी के किसी बहुत बड़े अँग्रेज़ी शफ़ाखाने का हाल सामने है। फिर १३वीं शताब्दी के मध्य में तबरेज में रशीदुद्दीन फ़ज़लुल्लाह के 'रबा रशीदी' की सैर कीजिए। उसके खतों में सारी दुनियाँ से अच्छी-से-अच्छी दवाओं के बड़े आर्डर देखिए और उसमें जो तिब्बी शिक्षा दी जाती है, उसकी पूरी जानकारी कीजिए तो मालूम होता है कि उचित शिक्षा की व्यवस्था आज भी उससे ज़्यादा अच्छी नहीं है। उस एक तबीब वज़ीर ने हिन्दुस्तान, मिस्र, स्याम और चीन के पचास बड़े कुशल तबीब जमा कर लिये हैं। हरेक अपनी-अपनी कला में बहुत कुशल है। हरेक के साथ सिर्फ़ दस-दस चुने हुए होनहार विद्यार्थी नियत किये गए हैं। इनको शफ़ाखाने के निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। ये रोगियों का निरीक्षण करते हैं, उसके नोट्स रखते हैं, और अपने अध्यापकों से उनके सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। शफ़ाखाने के कामों के लिए हर तरह के कुशल और सहायक लोग मौजूद हैं, जिनके साथ क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त करने के लिए पाँच-पाँच सहयोगी विद्यार्थियों में से ही लिये गए हैं। इन विद्यार्थियों से आशा की जा सकती है, कि इन्हें ठीक प्रकार से निरीक्षण करने की विधि आ जायगी और निरीक्षण से ठीक निष्कर्ष निकालने का उपाय भी ये सीख लेंगे। इनसे यह आशा भी हो सकती है कि ये निरीक्षण की सामान्य भ्रान्तियों से बच सकेंगे, और अपनी कला के स्तर को अपने अथक परिश्रम और अनुभव के द्वारा ऊँचा करेंगे। मेरे विचार से तो आपकी कला की सफल शिक्षा का मूलमन्त्र बस यही है, कि विद्यार्थी-जीवन में मौलिक चीज़ों की शिक्षा भली भाँति दीजिए, और किताबों की जगह क्रियात्मक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दीजिए। विद्यार्थियों में अध्यापक-गण जब अपने आदर्श के द्वारा, अपनी कला के विकास के द्वारा उसकी श्रेष्ठता की अनुभूति; मेहनत की लत; काम को यथाशक्ति पूरा करने की आदत, और रोगियों के प्रति स्वाभाविक

सहानुभूति पैदा कर दें, और उनके मानसिक विकास की वह व्यवस्था करें जिसकी चर्चा अभी कर चुका हूँ—तब उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि उस श्रेष्ठ कला के महान् कलाकार उनके प्रयत्न से पैदा हुए। और यह विश्वास ही इतना बड़ा पुरस्कार है, कि कोई अध्यापक उससे अधिक पाने की आशा नहीं कर सकता !

अब इस तिब्बी मदरसे के प्रबन्धकों से और विशेषकर उन विद्यार्थियों से, जो इस वर्ष अपनी शिक्षा समाप्त करके उपाधि ले रहे हैं, मैं उस समाज की ओर से कुछ कहना चाहता हूँ, जिसकी सेवा उन्हें सौंपी गई है—यानी आप हिन्दुस्तानी नागरिकों की ओर से, उसकी जनता की ओर से—जिसकी निर्धनता, जिसकी निरक्षरता और जिसकी ग़ुलामी उसे प्रायः यह जानने भी नहीं देती कि तन्दुरुस्ती किसे कहते हैं, इलाज किसका नाम है, दुःख-दर्द में कोई मदद भी दे सकता है, और मरना भी हो तो मौत की पीड़ा को कोई कम भी कर सकता है या नहीं;—उस जनता की ओर से, जिसकी एक बड़ी सेना चेचक, हैज़ा, ताऊन में हर साल एक बे-तोप, बे-बन्दूक की लड़ाई में काम आ जाती है; जिसके लाखों आदमी हर साल मलेरिया के शिकार होते हैं मरते हैं, और मरने से बचते हैं, तो जीवन-भर के लिए अपनी क्रिया-शक्ति खो बैठते हैं; जिसने एक इन्फ्लुएँजा की बीमारी में दो साल के भीतर कोई ८५ लाख आदमी हाथ से खो दिए,—उस आबादी की ओर से, जो रोगों के हमलों के सामने ऐसी ही बेबस है जैसे शेर के सामने बकरी, जो न स्वास्थ्य के नियमों से परिचित है, न रोग-निवारण के उपायों से ही, जो सिसक-सिसककर जीना और एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरना जानती है, और अपनी अभावुकता [बेहसी] (Insensitiveness) और बेबसी को सब्र का नाम देकर खुश हो लेती है। उस आबादी को बीमारियों से बचाना, बीमारी में उसका इलाज करना आपका कर्तव्य है। उसमें गिनती के थोड़े-से लोग खाते-पीते हैं, और दूसरे दीन हैं, दलित हैं। सुखी बस ऐसे हैं, जैसे किसी ग़रीब की बटलोई में चिकनाई की चन्द बूँदें ! अब आपको यह निश्चय करना है, कि आप अधिकतर ध्यान उन गिने-चुने सुखी लोगों की

और लगाएँगे जो भूख से नहीं—अधिक खाने से बीमार पड़ते हैं, या उनकी ओर जिनके बच्चों की हड्डियाँ पूरा भोजन न मिलने से पूरा विकास नहीं पा सकतीं, और जो जीवन में एक बार भी भर-पेट खाना नहीं खाते, और इसलिए किसी रोग का अच्छी तरह सामना नहीं कर सकते। आपका मन भी उन सुखी लोगों में शामिल होना चाहता हो, तो शायद आप उनके लिए ताक़तवर माजूनों और पाचक चूरनों के नुस्खे लिखने में जीवन बिता डालेंगे। मगर देश का काम इससे नहीं चलेगा। यों तो आदमी आँखों पर ठीकरियाँ रख ले तो कोई उसका क्या कर सकता है? पर आपके चारों ओर जो दुःख और बीमारी फैली हुई है, निर्धनता और भूख ने सामान्यतः लोगों के स्वास्थ्य की जो दुर्दशा कर रखी है, उसका अनुभव आपको होगा, तो आप चैन की नींद न सो सकेंगे। जीवन की विपता, दुःख और बीमारियाँ हमारे इतनी क़रीब हैं कि अक्सर हम उनसे असावधान हो जाते हैं। दुःख-भरी आहें इतने सीनों से निकलती हैं कि सारा वायुमण्डल उनसे भर जाता है, और हम उन्हें सुन नहीं सकते, और शायद अपना जीवन काटने के लिए यह ठीक ही हो। इसलिए अगर अनुभूति तीव्र हो, हर आह सुनाई पड़े और हर दुःख-दर्द दिखाई दे, तो ऐसा हो जाय जैसे कोई घास के उगने और बढ़ने की आहट सुनने लगे और हरेक प्राणी के दिल की धड़कन का अनुभव करने लगे, और शायद हम उस भयानक कोलाहल की तुलना न कर सकें, जो विपता के उस सन्नाटे में छिपा हुआ है, मगर सुनाई देकर यह चाहे हमारे कानों के पर्दे न फाड़े, और दिखाई देकर हमारी आँखों को रुला-रुला कर अन्धा न करे—मगर उसके अस्तित्व का ज्ञान हमें है और उससे योंही छुटकारा पाना भी सम्भव नहीं। मेरा निवेदन आपसे यह है, कि उस दुःख को दूर करने के लिए आप कमर कस लें। हिम्मत से सब काम हो जाते हैं। चेचक की बीमारी, जिससे आप ही के सूबे में हज़ारों आदमी हर साल मरते हैं, योरुप में भी ऐसी ही आम थी जैसी हमारे यहाँ है, बल्कि उससे कुछ और ज़्यादा। वहाँ तो लगभग हर आदमी को यह बीमारी होती थी। हर बारह आदमियों में से एक आदमी

इसका शिकार होकर मरता था। जो बच जाते थे उनकी कुरूप आँखें और चेहरे उम्र-भर उस मुसीबत की याद दिलाते थे। अमीर-ग़रीब सब इसके हाथों तंग थे, न मालूम कितने बादशाह इसके शिकार हुए। १८वीं शताब्दी में कोई छः करोड़ आदमी योरुप में इस रोग से मरे, यानी हर साल कोई छः लाख। लेकिन आज योरुप इस बीमारी से लगभग मुक्त हो चुका है।

ताऊन की बीमारी, जिसमें आज भी हमारे हज़ारों नहीं—बल्कि लाखों देशवासी हर साल जान देते हैं, कभी दूसरे देशों में भी फैली थी। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गिबन (Gibbon) ने एक जगह लिखा है कि, "अगर पूछा जाय कि संसार के इतिहास में सबसे अच्छा समय कौनसा था, तो मैं रोम का सन् '९६ और १८० ई० का मध्यकाल बतलाऊँगा।" गिबन बड़ा इतिहासकार है, और उसकी बात वज़न रखती है। मगर आपको कुछ मालूम है, कि इतिहास के उस महत्वपूर्ण काल में रोमन-राज्य में कम-से-कम तीन बार ताऊन की बीमारी फैली, और सन् १६४ ई० से तो बराबर सोलह साल तक जारी रही। उस महत्वपूर्ण काल का आरम्भ उसी भयानक बीमारी से हुआ और एक-एक दिन में दस-दस हज़ार जानें चली गईं। उसी समय सारे देश-भर में मलेरिया फैला और तीन शताब्दियों तक देश को बरबाद करता रहा, उस वक्त तक कि जर्मनी की असभ्य-जंगली जातियों ने उसे लूट-मार करके नष्ट कर दिया। लेकिन इसके होते हुए भी गिबन ने उसे सबसे महत्वपूर्ण काल इसलिए कहा है कि गिबन के समय तक इस बीमारी के जो हमले योरुप में होते रहे, वे इनसे भी अधिक भयानक थे। गिबन के यह लिखने तक योरुप पर ताऊन की चार शताब्दियाँ गुज़र चुकी थीं। उन पश्चिमी शहरों में भी यहाँ की तरह रोज़ हज़ारों मौतें होती थीं। मगर आज उस बीमारी के कारणों का पता लग जाने से, और उन पर विजय पा लेने से, योरुप इस बीमारी से मुक्त हो गया है। अभी सन् १७९३ ई० में फ़िलेडल्फ़िया की आबादी में दस प्रतिशत मनुष्य पीले बुख़ार के शिकार हुए। मगर अमरीकन डाक्टरों ने विशिष्ट ज्ञान और अथक परिश्रम से अपने देश को इस अभिशाप से बचा लिया। और दूसरे उदाहरण देने से क्या

लाभ ? तो, आपके सामने एक महत्वपूर्ण काम है, दृढ़-चित्त और परम साहसी मनुष्यों के करने का काम ! स्वार्थ में अन्धे लोगों के लिए पैसा कमाने का मौका है, मगर उनके सीने पर हमेशा यह बोझ रहेगा कि उन्होंने मनुष्य-जाति और अपने ही राष्ट्र के लोगों की निर्धनता, निरक्षरता, गुलामी और बेबसी से फ़ायदा उठाकर, बस चाँदी के चन्द टुकड़े जमाकर लिये, और मर्ज और बीमारी के विरुद्ध मोरचा जमाने और अपने राष्ट्र को उससे मुक्त करने के शुभ काम में कभी हाथ न बँटाया। वास्तव में अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हर आदमी को कुछ अपेक्षा होती है। आपके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था वास्तव में सरकार को करनी चाहिए। आपके व्यवसाय के लोगों की सुविधा के लिए प्राचीन काल में भी यही विधान था। सरकार की ओर से आपकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने की व्यवस्था की जाती थी, और आप समान रूप से अमीरों और ग़रीबों की सेवा बिना किसी भेदभाव के किया करते थे। उन बदली हुई परिस्थितियों में जब कि सरकार का आश्रय उठ गया था, उस समय तबीबों के बहुत से प्रसिद्ध परिवारों ने सारे देश में ग़रीबों की जो सेवा की है, वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए बड़े गौरव की बात है। पर धन-दौलत के संघर्ष से राष्ट्रीय जीवन के मूलतत्त्व को पृथक् और सुरक्षित रखने के लिए कोई वस्तु इतनी प्रभावपूर्ण नहीं, जितनी कि निःस्वार्थ काम करने वालों का ऐसा समुदाय, जो उनकी सम्पत्ति का लोलुप न हो, बल्कि जिसने अपनी सारी शक्ति अधिकार की खोज, सत्य के प्रचार और जन-सेवा के लिए समर्पित कर दी है। मेरी यह शुभकामना है कि आपके विद्यालय से उपाधि प्राप्त करने वाले युवक ऐसे समुदाय में सम्मिलित हों और सच्चे सैनिकों की भाँति देश को निरक्षरता और शारीरिक व्याधियों के विकराल जाल से मुक्त कर दें !

[यह भाषण गवर्नमेण्ट तिब्बिया कॉलिज, पूना के उपाधि-वितरण के अवसर पर सन् १९३८ ई० में दिया गया।]

बुनियादी शिक्षा

राजेन्द्र बाबू, भाइयो और बहनो !

आज बुनियादी शिक्षा की दूसरी कॉन्फ्रेन्स शुरू हो रही है। हमारे बुलावे पर आप सब लोग दूर और पास से, सफ़र की तकलीफ़ें उठाकर, अपने कामों का हर्ज करके, इसमें भाग लेने आए हैं। हम वैसे तो आपको धन्यवाद देने में असमर्थ हैं; किन्तु विश्वास कीजिए कि हम हृदय से आपके बड़े आभारी हैं। हमें बड़ी आशा है, कि अपनी बात सुनाकर और दूसरों की सुनकर, अपनी सफलताओं से औरों की हिम्मत बढ़ाकर और अपनी असफलताओं से दूसरों को सावधान करके, आपका यह सम्मेलन देश को सही बुनियादी शिक्षा की राह पर एक क़दम और आगे बढ़ा सकेगा !

आपको याद होगा, कि पहली बुनियादी कॉन्फ्रेन्स को एक मालदार सूबे की सरकार ने बुलाया था। आज आप राष्ट्रीय संस्था के बुलावे पर यहाँ जमा हुए हैं। आपको अगर रहने-सहने और खाने-पीने की वैसी सुविधा न हो, तो हमें क्षमा कर दीजिये, और विश्वास कीजिए कि आपके सुख-साधन में अगर कोई कमी हुई है, तो इसलिए नहीं कि हम सुख-सुविधा जुटाना नहीं चाहते, बल्कि शायद इस कारण से कि हमारे पास इसके पूरे साधन नहीं हैं। और मुझे तो विश्वास है, कि आप शायद इन छोटी-छोटी असुविधाओं को ध्यान में भी न लाएँगे। लेकिन पहली और दूसरी कॉन्फ्रेन्स के इस अन्तर से ध्यान इस ओर जरूर जाता है कि यह बुनियादी शिक्षा का काम है किसका ? सरकार का या निजी आदमियों और संस्थाओं का ? मैं चाहता हूँ कि हम सब इस बात को अच्छी तरह

सोचें, जैसा कि आपको मालूम है, कि बुनियादी शिक्षा की योजना निजी आदमियों ने बनाई थी। अगर कोई सरकार उनकी योजना को न अपनाती, तब भी शायद वे लोग शिक्षा की जिस प्रणाली को उचित समझते थे, उसको कहीं-न-कहीं अवसर पाकर व्यवहार में लाते, और अपने अनुभव से संस्थाओं को शायद कोई नई राह दिखा सकते; या जैसे बहुत-सी कल्पित योजनाएँ बनाई जाती हैं—यह योजना भी बनाई जाती और एक छोटी-सी किताब के रूप में कहीं-न-कहीं किसी पुस्तकालय में मिला करती। लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपके विचार से यह पहला और दूसरा रूप बिल्कुल सम्भव था? मैं तो समझता हूँ कि यह योजना बनी ही इसलिए थी कि इसके बनाने वालों की दृष्टि से हमारे देश में एक अच्छा राज्य बनने का समय निकट आ गया था। अगर वह राज्य बन जाय तो वह इस काम को सँभाले। वह न बने, तो शिक्षा का कार्य करने वालों का कर्त्तव्य है कि वे इसे चलाएँ और इसको चलाकर एक आदर्श राज्य के लिए शीघ्र ही अनुकूल परिस्थितियाँ जुटाएँ। इस योजना के बनाने वालों को यह जरूर मालूम होगा कि अच्छा राज्य बनना हँसी-खेल नहीं है। यह तो बनते-बनते बनता है। इसलिए शायद वे पहले ही दिन से इसे राज्य की मदद के बिना ही चलाने के लिए कमर कस चुके होंगे। यह तो बस संयोग की बात थी कि शिक्षा-योजना को कई सूबों की सरकारों ने थोड़ी-बहुत कतर-ब्योंत के बाद एक-ही-साथ मान लिया, और बिना बहुत तैयारी के, और कहीं-कहीं तो ऐसे लोगों के हाथों—जिन्हें इस पर पूरा भरोसा न था—इसे चला भी दिया, कहीं छोटे पैमाने पर, कहीं बड़े पैमाने पर। और आज भी उनमें से कई जगह तो यह प्रयोग बड़े ही श्रम और संलग्नता से कार्यान्वित किया जा रहा है। पर, कहीं-कहीं पर कुछ लोग बेमन से इसे घसीट रहे हैं, जैसे बस किये की लाज हो, और एक-आध जगह तो आठ-दस महीने के लम्बे प्रयोग के बाद जैसे थककर या ग्लानिवश इससे पीछा छुड़ा लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि ये सरकारें इस योजना को न मान लेतीं, तो इस पर जितना कार्य हुआ है, वह भी न हो पाता।

मगर साथ-साथ यह भी सच है, कि सरकार के बाहर निजी लोगों में शायद इसके प्रति व्यर्थ में इतना क्षोभ न होता। बस, इसीलिए कि कुछ ऐसी सरकारों ने इसे चलाया जिनसे वे लोग सन्तुष्ट न थे। वे इस योजना को जाँचना और मानना तो क्या—एक आँख देखना भी नहीं चाहते। यह भी हुआ कि सरकार ने अपने आदेश से इसे चलवाया और काम कहीं-कहीं तो जरूर ऐसे लोगों के हाथ में आया जो स्वयं या तो इस योजना को समझे नहीं थे, या किसी ऐसे कारण से जिसका शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं इसे पसन्द न करते थे—यानी सरकार के हाथ में इस योजना के आने से अगर लाभ हुआ तो हानि भी जरूर हुई। फिर हमें क्या करना चाहिए? क्या यह कोशिश करनी चाहिए कि इस काम को सरकारों ही के हाथों में सौंप दें, या यह कि सरकार के अतिरिक्त दूसरी शक्तियों का भी इसके लिए उपयोग करें। मैं अपनी राय आपको बता दूँ। मैं समझता हूँ, कि बुनियादी शिक्षा का काम राज्य का काम है। यह इतना बड़ा और फैला हुआ काम है कि निजी कोशिशें इसे समेट नहीं सकतीं। लेकिन अगर राज्य किसी एक सम्प्रदाय या समुदाय की सरकार का नाम है, तो यह एक ऐसी चलती-फिरती छाया है कि शिक्षा इसके हाथ में कभी ज़्यादा देर तक ठीक रास्ते पर नहीं चल सकेगी। हाँ, राज्य अगर सामाजिक जीवन के उस संगठन को कहते हैं, जिसकी नींव न्याय पर पड़ी हो—जो स्वयं दिन-पर-दिन अपनी इस नींव को मजबूत करके नैतिक उन्नति करता जाता हो, और दिन-पर-दिन अपने नागरिकों के प्रयत्न से हर समुदाय और हर वर्ग क्या, बल्कि हर आदमी के नैतिक व्यक्तित्व की पूर्ण उन्नति की राह इसमें सुगम-से-सुगम होती जाती हो,—तो फिर शिक्षा ऐसे राज्य का सबसे महत्वपूर्ण काम है, क्योंकि स्वयं इसकी नैतिक उन्नति भी इस काम से ही होती है। दुनियाँ का कोई राज्य बिलकुल दोषरहित नहीं हो सकता। मगर कुछ राज्यों की नींव नैतिकता और सद्भावना पर जमी होती है, कुछ की नहीं होती; कुछ नैतिक उन्नति की ओर बढ़ते हैं, कुछ नहीं बढ़ते; कुछ न्याय का पालन करना चाहते हैं, कुछ नहीं चाहते; कुछ में सबके लिए उन्नति की

राहें खुली होती हैं, कुछ में बस थोड़ों के ही लिए खुलती हैं, और कुछ के लिए बन्द हो जाती हैं। बुनियादी शिक्षा का काम तो पहले प्रकार के राज्य का-सा काम है। दूसरे प्रकार के राज्य के हाथ में यह न पहुँचे तो अच्छा है। हमारे देश में अभी ऐसे नैतिक राज्य का बनना बाक़ी है। फिर जब तक यह नहीं बनता, क्या हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें? नहीं, जिस प्रकार स्वतन्त्र और अच्छे आदमियों का यह कर्त्तव्य है कि वे शीघ्र-से-शीघ्र अपने सामाजिक जीवन की नींव ऐसे नैतिक राज्य पर रखें, जिसकी मैंने अभी चर्चा की; उसी प्रकार हर सच्चे शिक्षा-सम्बन्धी काम करने वाले का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे राज्य के निर्माण में अवश्य अपना सक्रिय सहयोग दे। इसमें सन्देह नहीं कि उसका काम इस राज्य में बहुत कठिन होगा, लेकिन इस कारण से इसे छोड़ा तो नहीं जा सकता। हाँ, यह ज़रूर जान लेना चाहिए कि खोदना बहुत होगा और पानी बहुत कम निकलेगा। लेकिन यह सम्भव है, कि इस कड़ी मेहनत से लोगों का ध्यान कुछ पलटे, और हमारे देश में ऐसा राज्य स्थापित हो जाय, जो हमारे धीमे काम को एक ही हल्ले में कहीं-से-कहीं पहुँचा दे।

इस समय हमारे सौभाग्य से बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी यहाँ मौजूद हैं, और वे हमारी कॉन्फ्रेन्स का अभी कुछ क्षणों में ही उद्घाटन करेंगे। मैं इनके द्वारा शिक्षा-कार्य करने वालों की प्रार्थना अपने देश के सभी राजनीतिक नेताओं तक पहुँचाना चाहता हूँ, कि परमात्मा के लिए इस देश की राजनीति को सुधारिए, और जल्दी-से-जल्दी ऐसे राज्य की नींव डालिए, जिसमें एक राष्ट्र दूसरे पर भरोसा कर सके, कमज़ोरों को ज़ोरदार का डर न हो, ग़रीब अमीर की ठोकर से बचा रहे; जिसमें एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के साथ-साथ भली भाँति फलफूल सके, और हर एक से दूसरे की विशेषताएँ प्रकाशित हों; जहाँ हरेक वह बन सके जिसके बनने की उसमें क्षमता है, और वह बनकर अपनी सारी शक्ति को समाज-सेवा में लगा दे! मैं जानता हूँ, कि इन बातों को कह देना सरल है, और इन्हें करना किसी एक आदमी के बस की बात नहीं। लेकिन मुझे यक़ीन है, कि आज यह बात हमारे

राजनीतिक नेताओं के हाथ में इतनी है, जितनी पहले कभी न थी, कि कुछ समझकर—कुछ समझाकर, कुछ मान कर—कुछ मनवाकर—वे ऐसे राज्य की नींव रख दें। जब तक यह नहीं होता, हम शिक्षा-कार्य करने वालों की दशा दयनीय ही रहेगी। हम कब तक इस राजनीतिक रेगिस्तान में हल चलाएँ? कब तक संशय और भ्रान्ति के धुएँ में शिक्षा को दम घुट-घुटकर सिसकते देखें? कब तक हम इस डर से थर्राते रहें कि हमारी उम्र-भर की मेहनत और उम्र-भर की मुहब्बत को, कोई एक राजनीतिक असावधानी या मूर्खता—कोई एक राजनीतिक हट, मिटा डालेगी? हमारा यह काम भी कोई फूलों की सेज तो है नहीं! इसमें भी बहुत निराशाएँ होती हैं, और अक्सर दिल टूटता है। फिर जब हमारे क़दम डगमगाएँ, तो हम कहाँ सहारा ढूँढें? क्या उसी समाज में जहाँ भाई-भाई एक-दिल नज़र नहीं आते, कोई मान्यता सर्वमान्य नहीं मालूम होती, जिसमें कोई गीत नहीं जो सब मिलकर गाएँ, कोई त्यौहार नहीं जो सब मिलकर मनाएँ, कोई शादी नहीं जो सब मिलकर रचाएँ, कोई ऐसा दुःख-दर्द नहीं जिसे सब मिलकर बँटाएँ? हमारी यह कठिनाई दूर कीजिए, और जल्दी कीजिए। अब भी बहुत देर हो चुकी है, और-देर न जाने क्या दिन दिखाए?

भाइयो और बहनो! मैंने राजेन्द्र बाबू की उपस्थिति से लाभ उठाकर ये जो बातें कही हैं, वे, मैं जानता हूँ कि आप सबके मन की गूँज है। लेकिन अगर राजेन्द्र बाबू कुछ न करें, यानी राजनीतिक नेता कुछ न करें, या न कर सकें, तो क्या हमें थककर बैठ जाना चाहिए? हो सकता है, कि थकावट हममें इतना दम न छोड़े कि हम कुछ और भी कर सकें। मगर जब तक ऐसा नहीं है—इस बात का सोचना भी अच्छा नहीं लगता। मगर जब हमको यह विश्वास है कि बुनियादी शिक्षा का काम हमारे राष्ट्र के लिए एक ज़रूरी काम है, तो हमें बैठे-बैठे राजनीति का मुँह न तकना चाहिए, कि जब वह सुधर जाय और जब एक ऐसी राजनीति बन जाय, जो अपने कन्धों पर सब नागरिकों की शिक्षा का भार उठा सके, तो उस वक़्त

हम भी उसकी मदद करेंगे। नहीं! अगर हम आज ही से इस अच्छे काम में लगे न रहेंगे, तो शायद उस वक्त भी अपनी बे-समझी और अनुभवहीनता से उसको बिगाड़ेंगे। अच्छे-से-अच्छा राज्य भी तो अपने एक संकेत से वे धाराएँ नहीं प्रवाहित कर सकता, जिनके स्रोत पहले से ही रिसते न हों। इसलिए इस काम को तो चलाना ही है, और इस तरह चलाना है कि जब कोई सरकार बुनियादी शिक्षा के काम को अपने हाथ में लेना चाहे, तो वह यह न कह सके कि हम जानते नहीं कि यह काम कैसे होगा, और हो भी सकेगा या नहीं। और यही नहीं, बल्कि जब सरकारें इस काम को सँभाल लें और इसे हमारी इच्छा के विपरीत चलाएँ, तो क्या उस वक्त हमारा काम खत्म हो जायगा? मैं समझता हूँ, नहीं! कोई राज्य ऐसा नहीं होता, जिसमें उन्नति की जरूरत न हो। हर अच्छा राज्य, अगर सचाई और नेकी पर उसकी नींव है—अच्छे-से-अच्छा बनता जाता है। और दूसरी सामाजिक संस्थाओं का भी यही हाल है। आगे बढ़ते हैं नहीं, तो पीछे हटना होता है। अच्छा राज्य होता ही वह है, जिसके नागरिक अपने निजी जीवन के योग से उसे निरन्तर उन्नतिशील बनाते जाएँ। इसलिए अगर राज्य ने बुनियादी शिक्षा के काम को अपने हाथ में ले लिया, तब भी अच्छे-समझदार और शिक्षा के काम में लगन रखने वालों की एक बड़ी सेना इस शिक्षा को समुन्नत बनाने में सरकारी मदरसों के बाहर भी मौजूद होगी। वे ऐसे प्रयोग कर सकेंगे, जिन्हें सरकार शायद अपने काम के फैलाव की वजह से न कर सके, और वे अपने अनुभवों से—इनकी सफलताओं से और इनकी असफलताओं से सरकार के फैले हुए शिक्षा के काम को नई राहें दिखा सकेंगे। सारांश यह है, कि ग़ैर-सरकारी लोगों पर काम का बोझ आज भी है और कल भी होगा। राजनीतिक उथल-पुथल होती रहेगी, मगर बुनियादी शिक्षा का काम चलेगा—कभी सरकार के हाथों—कभी सरकार की सहायता के बिना। बुनियादी शिक्षा की योजना में जो चीजें बुनियादी हैं, उन्हें अब हमारा राष्ट्र—जहाँ तक मैं समझता हूँ—हाथ से नहीं जाने देगा। पहली बात तो यह है, कि जब कभी हमारे देश में ऐसी

सरकार होगी, जो सबकी भलाई एक-समान चाहेगी, जो अमीर-ग़रीब, हिन्दू-मुसलमान, भारतीय-अभारतीय में भेद न करेगी और सबकी सहमति से, और सबकी भलाई के लिए होगी—तो वह अपने सब लड़के-लड़कियों के लिए कम-से-कम सात वर्ष की निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करेगी, और उसे अनिवार्य भी बनाएगी। मैंने सात वर्ष तो कम-से-कम कहा। जब इस राज्य के साधन बढ़ेंगे, तो शायद वह सरकार इस अवधि को और आगे बढ़ाएगी। लेकिन अब किसी ज़िम्मेदार सरकार में "अपर प्राइमरी" और "लोअर प्राइमरी" और "प्रारम्भिक" और "माध्यमिक (सैकेण्डरी) शिक्षा" के नामों के चक्कर में आकर, राष्ट्र कभी सात साल से कम अवधि की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए तैयार न होगा। दूसरी बात, जो इस प्रकार निश्चित समझनी चाहिए, यह है कि वह सात साल की शिक्षा मातृ-भाषा ही में होगी। तीसरी बात, जो मेरी राय में इन्हीं दो की तरह कभी हाथ से न जाने दी जायगी, वह यह है, कि शिक्षा के उन सात वर्षों में काम को बीच की जगह दी जायगी, और जहाँ तक हो सकेगा, उसके द्वारा दूसरी सिखाने और बताने की चीज़ें सिखाई और बताई जायँगी। इस तीसरी बुनियादी बात का भी, मेरे विचार से, कोई हृदय से विरोधी नहीं है, मगर यह कुछ नई-सी बात है, इसलिए इसके समझने में स्वयं बुनियादी शिक्षा के काम करने वालों को भी कठिनाई होती है। आप आज्ञा दें, तो मैं इस समय थोड़े-से शब्दों में अपना मत प्रकट करूँ कि वास्तव में शिक्षा-कार्य का महत्व क्या है? और हम जो किताबों के मदरसों को काम के मदरसों में बदलना चाहते हैं, तो काम से क्या मतलब लेते हैं, या क्या मतलब लेना चाहिए?

काम को शिक्षा में स्थान देने की चर्चा, आज से नहीं, बहुत दिनों से चल रही है। मगर जितने मुँह उतनी बातें! कोई कहता है, काम को सिद्धान्त के रूप में मानो, उसे एक विषय (मज़मून) मत बनाओ। कोई कहता है, उसे एक विषय बना दो, उसके लिए एक घण्टा अलग दे दो, मगर और सब काम ज्यों-का-त्यों रहने दो। कोई कहता है, काम ऐसा हो

कि कुछ दाम भी हाथ आएँ। कोई कहता है, हरकत में बरकत है—बच्चों को ज़रा हाथ-पैर चलाने का मौक़ा दो, चाहे कुछ बने या न बने,—यह कोई मज़दूरों का काम थोड़े ही है, यह तो एक रचनात्मक (तख़लीकी) काम है। मैं उन लोगों में से किसी से भी झगड़ा मोल नहीं लेता, केवल अपना मत प्रकट करना चाहता हूँ। मेरा विचार है, कि जब हम शिक्षा के सम्बन्ध में काम की चर्चा करें, तो हमें वही काम ध्यान में रखना चाहिए, जिससे शिक्षा मिले, मस्तिष्क का विकास हो, आदमी अच्छा आदमी बने। मैं समझता हूँ, कि आदमी का मस्तिष्क अपने किए को परखकर और उसके अच्छे-बुरे पर नज़र करके तरक्क़ी करता है। और आदमी जब कुछ बनाता है, या कोई काम करता है—चाहे यह काम हाथ का हो, चाहे दिमाग़ का—तो इस काम से उसे मानसिक शिक्षा का लाभ तभी पहुँच सकता है, जब वह इस काम को पूरा करने के लिए अपना कर्त्तव्य भी पूरा करे, यानी इस काम के लिए अपनत्व का कुछ त्याग करे, अपने ऊपर नियन्त्रण करे। काम से शिक्षा-सम्बन्धी लाभ वही उठाता है, जो इसके लिए अपना कर्त्तव्य पूरा करने में इसके अनुशासन को भी अपने पर पूरी तरह लागू कर ले! इसलिए हर काम शिक्षा का काम नहीं होता। काम का सम्बन्ध शिक्षा से तब ही हो सकता है, जब कि इसके शुरू में मस्तिष्क कुछ तैयारी करे। जिस काम में मस्तिष्क का योग न हो, वह काम तो मुर्दा-मशीन भी कर सकती है, और इससे मस्तिष्क का विकास नहीं होता। काम से पहले काम का नक्शा, काम की रूप-रेखा मस्तिष्क में बनाना ज़रूरी है। फिर दूसरा क़दम भी मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है, यानी उस रूपरेखा को कार्यान्वित करने के साधन खोजना, उनमें से किसी को लेना, किसी को छोड़ देना। तीसरा क़दम होता है, काम को चुने हुए साधनों से कर डालना। और चौथा क़दम है, किये हुए को परखना कि जो नक्शा बनाया था, जो करना चाहा था, वही किया, और जिस तरह करने का इरादा किया था, उसी तरह किया या नहीं, और नतीजा इतना ठीक है या नहीं कि उसे आगे तक किया जाता। ये चार मंजिलें न हों, तो शिक्षा का काम हो ही न सकेगा। लेकिन अगर ये चारों

हों, तब भी हर काम शिक्षा का काम नहीं हो जाता। हर ऐसे काम से कुछ हुनरमन्दी ज़रूर पैदा हो जाती है, चाहे हाथों की हुनरमन्दी, चाहे मस्तिष्क की, चाहे ज़बान की। लेकिन हुनरमन्दी शिक्षा नहीं है। शिक्षित आदमी का जो चित्र हम सबके सामने आता है, उसमें ख़ाली हुनरमन्दी का रंग नहीं होता। हुनरमन्द तो चोर भी होते हैं, हुनरमन्द धोखे भी देते हैं, हुनरमन्द सच को झूठ कर दिखाते हैं। ऐसी हुनरमन्दी तो शिक्षा का लक्ष्य नहीं हो सकती! शिक्षा का काम वही काम हो सकता है, जो किसी ऐसी मान्यता की सेवा करे, जो हमारी स्वार्थ-भावना से परे हो, और जिसे हम मानते हों। जो अपने ही स्वार्थ के लिए काम करता है वह हुनरमन्द तो ज़रूर हो जाता है, मगर शिक्षित नहीं होता। जो मान्यता की सेवा करता है, वह शिक्षित हो जाता है। मान्यता की सेवा में आदमी अपने कर्त्तव्य का पालन करता है—अपना स्वार्थ नहीं ढूँढ़ता। इससे वह आदमी बनता है—अपना नैतिक रूप सुधारता है। क्योंकि नैतिकता और है क्या, सिवाय इसके कि जो मान्यताएँ स्वीकार की जानी चाहिए, उनकी सेवा में आदमी अपनी इच्छाओं और लालचों और स्वार्थों को दबाए, और उस मान्यता की पूरी-पूरी सेवा करे, और उस सेवा का जो उद्देश्य है—उसका पूरा-पूरा पालन करे। काम की यह विशेषता हाथ के काम में भी हो सकती है और दिमाग़ के काम में भी; और हाथ का काम भी इससे ख़ाली हो सकता है, और दिमाग़ का भी। सच्चे काम का मदरसा वही है, जो बच्चों में काम करने से पहले उस पर सोचने, और करने के बाद उसे जाँचने और परखने की आदत डाले, कि काम से इस बात की आदत-सी हो जाय कि वे जब कभी कोई काम करें—हाथ का या दिमाग़ का—उसको सभी प्रकार से अपनी शक्ति लगाकर पूरा करने की कोशिश करें। काम को शिक्षा का साधन बनाने वालों को यह हरदम याद रखना चाहिए कि काम बिना उद्देश्य के नहीं होता, और हर नतीजे से मेल भी नहीं खाता। काम बस कुछ करके वक्त काट देने का नाम नहीं। काम कोरी दिल्लगी नहीं—काम खेल नहीं—काम काम है! उसका लक्ष्य और श्रम से गठबन्धन है। काम दुश्मन की

तरह आप अपना हिसाब जाँचता है। फिर जब उसमें पूरा उतरता है, तो वह ऐसी खुशी देता है—जो और कहीं नहीं मिलती। काम साधना है, काम आराधना है!

लेकिन साधना और आराधना के क्षेत्र में भी तो लोग स्वार्थी हो जाते हैं। अपने स्वर्ग का साधन जुटा लिया, दूसरे से क्या मतलब? काम का सच्चा मदरसा अगर उचित शिक्षा की जगह है, तो काम को कभी अकेले व्यक्ति की स्वार्थ-साधना नहीं बनने देता, बल्कि सारा मदरसे-का-मदरसा एक-ही काम में लगा हुआ एक समुदाय बन जाता है, जिसमें सब मिलकर काम करते हैं, और सब के काम ही से सब काम पूरा होता है। सब से सब का काम निकलता है, और सब के किए बिना काम बिगड़ता है। किसी एक की भूल से सब के काम में बाधा पड़ती है। कमज़ोर को पीछे छोड़कर आगे चल देना मुश्किल होता है। यों मिलजुलकर काम करने में कन्धे-से-कन्धा छिलता है—जिससे ऐसी विशेषताएँ पैदा होती हैं, जिनकी हमारे देश में बड़ी कमी है। यानी आदमी का आदमी के साथ निर्वाह करना और अपने दायित्व के प्रति इतना सजग होना, जिससे कि समाज का हर काम हरेक का काम बन जाता है।

और फिर काम का अच्छा मदरसा इस पर भी सन्तोष नहीं कर लेता कि इसके बच्चों ने काम से अपना सुधार या विकास कर लिया, काम से इसके बच्चों का अपना एक समाज-सा बन गया, और वे उसके कर्तव्य और दायित्व को पहचानने और समझने ही नहीं—उनका पालन भी करने लगे; बल्कि काम का अच्छा मदरसा तो उस मदरसे के समाज को भी किसी ऊँचे लक्ष्य का सेवक बनाता है, जिससे कहीं यह न हो कि बच्चे व्यक्तिगत स्वार्थ-परता से तो बच जायँ, मगर इससे बचकर सामाजिक स्वार्थपरता के दलदल में फँस रहें। इसका तात्पर्य यह है, कि काम का मदरसा अगर बन जाय, तो वह अपने बच्चों को उसी तरह काम करना सिखा देता है जैसे कि काम होना चाहिए। वह उनको मिल-जुलकर काम करने का मौक़ा देता है, और उनमें यह विश्वास पैदा कर देता है कि उनका काम समाज की सेवा करना

है। और फिर उस समाज में भी इस बात की लगन पैदा कर देता है कि मनुष्य की कल्पना में अच्छे-से-अच्छे समाज का जो चित्र आ सकता है, उसके अनुरूप ही उसका समाज बनता जाए। वह इस बात की नींव डालता है कि समाज में हर आदमी कोई काम का काम करे, उस काम को अपना सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्य समझे, और अपने कामों से और अपने जीवन से अपने समाज को एक आदर्श समाज बनाने में सदा पूरा-पूरा योग दे।

अगर कभी हमारा समाज अच्छा समाज बन गया, तो वह ऐसे मदरसों के बिना एक पल भी कैसे चैन लेगा। लेकिन जब तक पहले ऐसे मदरसे न होंगे, वह समाज आसानी से बन कैसे जायगा? इसलिए जिससे बन पड़े, ऐसे मदरसे बनाए। मेरी प्रार्थना केवल आपसे नहीं: जो बुनियादी शिक्षा के समर्थक हैं, बल्कि उनसे भी है, और दिल से है, जिन्होंने बुनियादी शिक्षा की योजना को बुरा समझा है। मैं उनसे केवल यह कहना चाहता हूँ, कि बुनियादी शिक्षा अगर वही चीज़ है, जिसकी मैंने अभी चर्चा की है, तो आप उसके विरोधी कैसे हो सकते हैं? यह सच है, कि किसी और चीज़ ने आपको उसका विरोधी बनाया हो। शायद आपको बुनियादी शिक्षा के उस पाठ्यक्रम में, जो एक निजी कमेटी ने बनाया था, कुछ बातें न भाती होंगी—कुछ बातें आपके विचार से उसमें कम होंगी—कुछ ऐसी होंगी जिन्हें आप ना-पसन्द करते होंगे। मगर 'पाठ्यक्रम' बुनियादी शिक्षा की स्कीम नहीं है, पाठ्यक्रम सिद्धान्त नहीं है, पाठ्यक्रम ऐसा नहीं कि बदला न जा सके। पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते समय खुद इसे बनाने वालों ने भी यह कह दिया था कि यह तो जाँच और प्रयोग की वस्तु है। इस पर आज तक कोई आधी-दर्जन कमेटियों ने विचार और बहस कर-करके इसे कुछ-कुछ घटाया-बढ़ाया है, और बहुत-कुछ मान भी लिया है। लेकिन यह मानना भी कोई आखिरी बात नहीं। अभी दो दिन बाद इसी, कॉन्फ्रेन्स में इस पाठ्यक्रम पर बहस होगी, और न जाने इसके कितने दोष सामने आएँगे। लेकिन उन दोषों के कारण इस योजना के मौलिक सिद्धान्तों को—जो कि मेरे विचार से उचित और उपयुक्त हैं—छोड़ न देना चाहिए।

इसमें छोड़ने वाले ही की हानि है। उन सिद्धान्तों को सामने रखकर दूसरा पाठ्यक्रम बनाइये। उसे कुछ मदरसों में प्रयोग करके देखिए और स्वयं अपने परिणाम को परखिये। अच्छा परिणाम होगा, तो दूसरे भी उससे लाभ उठाएँगे, और अगर आप ग़लती पर होंगे, तो ग़लती समझ में आ जायगी। शायद आप इस योजना को इसलिए नापसन्द करते होंगे कि जिन्होंने इसे बनाया—वे लोग आपको पसन्द नहीं। लेकिन अच्छी और ठीक बात तो अच्छों का खोया हुआ माल है—जहाँ भी हो, वे उसे उठा लेते हैं। इस बात से प्रभावित होकर, आप क्यों कोई अन्यथा धारणा बनाते हैं, कि पहले यह योजना किसने बनाई और कहाँ बनाई, और किन लोगों ने पहले इसको माना। नामों की न पूजा ही करनी चाहिए, न नामों से भड़कना चाहिए!

मुझे क्षमा कीजिए, कि मैंने आपका बहुत-सा समय ले लिया। मैं हृदय से आप सबका स्वागत करता हूँ। आपके सामने तीन दिन तक कड़ी मेहनत का काम है। फिर इन तीन दिन के बाद और भी मेहनत आप के लिए है, यानी यहाँ जो कुछ सोचा जायगा उसे करना है। अगले साल फिर अपने काम के नतीजों को परखना होगा, और जिस तरह हम अपने काम के मदरसों में बच्चों को काम से शिक्षा देना चाहते हैं, उसी तरह ख़ुद अपने काम से अपनी शिक्षा का काम लेना होगा। परमात्मा हमें ऐसी शक्ति दे, कि हम अपने को, अपने काम से उसका सच्चा सेवक बना सकें। उससे यह प्रार्थना है, कि वह हमें सीधी राह दिखाए, उन लोगों की राह, जिन पर उसका वरदहस्त रहा, और उनकी राह से बचाए, जो सीधे रास्ते से भटक गए और जिनसे उसे सदा असन्तोष रहा!

[यह भाषण बुनियादी शिक्षा की कॉन्फ्रेंस के अवसर पर जामिया नगर, दिल्ली में ११ अप्रैल १९४० ई० को दिया गया।]

बच्चों का विकास

: १ :

हमारी इस रंग-बिरंगी दुनियाँ में ऐसी चीज़ों की क्या कमी है, जिन्हें देखकर आदमी अचम्भे से उँगली दाँतों में दबा ले ! मगर आदमी के बच्चे से अधिक अचम्भे में डालने वाली शायद और कोई चीज नहीं। किसी और जानदार का बच्चा शायद इतना बेबस नहीं होता, न इतने समय तक अपने माँ-बाप और बड़ों का मुँह तकता है। कोई और बच्चा अपनी सारी शक्तियों के विकास के लिए इतनी देर नहीं लगाता। पहले तो इसकी बेबसी और मन्द प्रगति पर हँसी आती है। पर, ज़रा सोचिए, तो ख्याल होता है कि ये दुनियाँ के हाकिम और बादशाह—इन्सान का बच्चा है। शायद प्रकृति चाहती है, कि बड़ा होते- होते यह बादशाह बनने के लायक़ हो जाए। इसीलिए इसकी शिक्षा का पाठ्यक्रम इतना लम्बा रखा गया है। इसके शरीर के विकास तक में, ऐसा मालूम होता है, कि प्रकृति ने विशेष देख-रेख की है कि काम खूब पक्का हो, जल्दबाज़ी में ख़राब न हो जाए। वह कुछ बढ़ती है फिर रुकती है, मानो क़दम-क़दम पर मज़बूती का पूरा-पूरा इन्तज़ाम करती चलती है। पहले साल बच्चा बड़ी तेज़ी से बढ़ता है। मगर दो साल से पाँच साल की उम्र तक प्रकृति इस प्रगति को मन्द कर देती है। पहले साल के खिंचाव के बाद यह भराव की अवस्था होती है। पाँच से सात साल तक बच्चा फिर तेज़ी से बढ़ता है, यह खिंचाव की दूसरी अवस्था है, जिसके बाद सात से ग्यारह वर्ष तक फिर भराव के लिए रखे गए हैं। उसके बाद एक बार

फिर खिंचाव होता है, और उसी के बिलकुल बाद ही एक भराव का दौर और आता है जो इसे एक निखरा हुआ और उमंगवाला नौजवान बना देता है। इसका मतलब यह है, कि प्रकृति अपना काम ख़ूब ठोक-बजा कर करती है, इसलिए कि यही तो उसकी निधियों का स्वामी है, और यही है उसकी दुनियाँ का सरदार !

हाँ, बेचारी प्रकृति बहुत-कुछ कर देती है, मगर सब कुछ तो नहीं कर सकती। इस नन्हीं-सी जान को दुनियाँ में देवदूत की सत्ता पर पहुँचाने में इसके माँ-बाप, स्नेही-सम्बन्धी और सारे इधर-उधर फैले हुए मानव-जगत् को भी बहुत-कुछ करना होता है, और अक्सर इसी हिस्से में कसर हो जाती है। और आदमी के सुपुर्द अपने बच्चों की शिक्षा और देखभाल का जो काम है, उसमें वह ऐसी-ऐसी असावधानियाँ कर बैठता है कि प्रायः प्रकृति का उद्देश्य पूरा ही नहीं हो पाता, और उद्देश्य पूरा होना तो दूर रहा, हमारे देश में लाखों बच्चों को जन्म के साल-भर के भीतर-भीतर ही इस दुनियाँ से विदा कर दिया जाता है, और लाखों को पाँच साल तक पहुँचने से पहले-पहले ! जो बच रहते हैं, वे बाप की नादानी, नानी-अम्मा के लाड़-प्यार की प्रयोगशाला बनते हैं। उसके मस्तिष्क में तरह-तरह की गुत्थियाँ डाल दी जाती हैं, जो जीवन-भर सुलझाए नहीं सुलझतीं। इनसे भी कोई बच निकले तो मदरसों में एक-से-एक घाघ (बुक़रात) उस्ताद पड़ा हुआ है, वह उन्हें आदमी बनाने की कोशिश में जानवरों से भी बुरी दशा पर पहुँचा देता है; और जब ये दुनियाँ में परमात्मा के वैभव का उपभोग करने निकलते हैं, तब न इनका तन दुरुस्त होता है, न मन; न उत्साह, न उमंग; न साहस, न आत्मविश्वास; बस डरे-डरे, सहमे-सहमे; हर चीज़ से भय, हर चीज़ पर सन्देह; न किसी से लगाव, न किसी पर भरोसा; न काम का शौक़, न दिल बहलाव का सलीक़ा; कुछ करते भी हैं, तो गुलामों की तरह—सज़ा के डर से या इनाम के लालच से; न अपने चारों ओर की यथार्थ परिस्थितियों से परिचित, न उनका सामना करने की क्षमता; ख़्याली पुलाव पकाते हैं और हवाई मन्सूबे गाँठते हैं—जिन्हें

क़दम-क़दम पर जीवन के कटु सत्य छिन्न-भिन्न कर देते हैं। ये जीवन को सारहीन समझने लगते हैं, और जीवन भी इनसे ऊब जाता है। दुनियाँ इनके लिए कारावास है, और ये दुनियाँ के लिए अभिशाप होते हैं!

इस दुर्दशा को, और बड़ों के बाधक बनने से छोटों के जीवन को दुःखमय और निस्सार होते देखकर, कुछ भले आदमी तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि बच्चों की शिक्षा के लिए कुछ करना ही न चाहिए, उन्हें अपने हाल पर छोड़ दो, तो कुछ-न-कुछ हो ही रहेंगे। इस ख्याल में कुछ तो माँ-बाप और उस्तादों की असावधानियों और भूलों पर वास्तव में रोष आता है। मगर साथ ही आज़ादी के फ़िल्सफ़े की, नज़रों को चकाचौंध करने वाली, चमक का भी थोड़ा-बहुत मेल है, जिसकी तेज़ रोशनी कभी-कभी अँधेरे में रहने वाले ग़रीबों की रही-सही नज़र को भी खत्म कर डालती है, और ये बेचारे अनजान शब्दों के गोरखधन्धे में फँसकर न इधर के रहते हैं, न उधर के।" बच्चों पर तरह-तरह के बन्धनों का दुष्परिणाम देखकर, बहुत-से अच्छे-समझदार लोगों ने, उनको कम करने की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो वास्तव में उचित ही है। मगर इससे हमारे यहाँ के ख्यालों के उचक्के न जाने क्या समझ लेते हैं, और लगते हैं प्रचार करने कि बस बच्चों को उनके हाल पर छोड़ दो! तो, निवेदन यह है कि हाँ, छोड़ सकिए तो ज़रूर छोड़ दीजिए। मगर आपका मुन्ना एक स्वस्थ बच्चे की सारी शक्तियाँ लेकर दुनियाँ में आया हो, तो यही कोई बीस-बाईस हज़ार साल की उम्र पाते-पाते वह सभ्यता और शील के उस स्तर पर पहुँच जाएगा, जिस पर कि आप मौजूद हैं, और अपनी वर्त्तमान स्थिति पर पहुँचने में, कहते हैं कि, मानवता को लगभग उतना ही समय लगा है।

इसी बात पर मुझे एक कहानी याद आई। कहिए, तो सुना दूँ। मगर हाँ, आप इस वक्त तो मुझसे कुछ नहीं कह सकते, बस सुन सकते हैं। खैर, बिना कहे ही सुनिए! आप जानते हैं कि अमरीका के लोग दुनियाँ के सारे नए अमीरों की तरह हर चीज़ की क़ीमत बहुत पूछा करते हैं। एक अमरीकन करोड़पति एक बार ऑक्सफ़ोर्ड पहुँचे। कहते हैं, कि

ऑक्सफ़ोर्ड के हरे-हरे लॉन बहुत ही अच्छे हैं। अमरीकन करोड़पति साहब उन पर रीझ गए। फ़ौरन जैसे किसी ने बटन दबा दिया हो—यह सवाल मुँह से निकला, "ऐसे लॉन कितने में तैयार हो जाएँगे?" साथ में जो प्रोफ़ेसर साहब थे, उन्होंने कहा, "मैं तो मानव-विज्ञान (Anthropology) के विभाग का अध्यक्ष हूँ, इन बातों को बिलकुल नहीं जानता, आप कहें तो माली को बुला दूँ। आप उससे मालूम कर लें।" "बुलाइये!" माली आया। करोड़पति साहब ने कहा, 'हम बिलकुल ऐसा ही लॉन अपने यहाँ चाहते हैं, कितने में तैयार हो जायगा?" माली ने कहा, "साहब! इसमें कितने का क्या सवाल है, कौड़ियों में तैयार होता है, कौड़ियों में! ज़मीन तो आप के पास होगी ही, ज़रा अच्छी तरह इकसार करा लीजिएगा, उस पर घास जमा दीजियेगा। जब घास ज़रा बढ़ जाए, तो उसे काटकर ऊपर से रोलर फिरा दीजिएगा। और बस यही काम, कोई पाँच-सौ बरस तक करते रहिएगा। बस, ऐसा लॉन तैयार हो जाएगा।" हाँ, तो इसी तरह अगर बच्चों को बिलकुल स्वतन्त्र छोड़कर कोई साहब उनको सही शिक्षा देना चाहें, तो उन बच्चों को कोई बीस हज़ार वर्ष तक जीवित रखने का उपाय भी कर लें! परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं, और परमात्मा ने चाहा, तो उस अवस्था को पहुँचते-पहुँचते प्रत्याशित परिणाम निकल आएगा। इस समय तक तो हमारा विचार यही है, कि बच्चों को मदद की ज़रूरत है—निर्देश की ज़रूरत है—सहानुभूति और स्नेह की ज़रूरत है— समझने-समझाने की ज़रूरत है। इसमें सन्देह नहीं, कि काम कठिन है, पर केवल सरल काम ही तो करने के नहीं होते। पिछले दिनों बच्चों के शारीरिक विकास, उसकी मानसिक उन्नति और मनोवैज्ञानिक दशा के सम्बन्ध में बहुत-कुछ छान-बीन हुई है। अगर माँ-बाप और अध्यापक अपने काम के महत्व को समझें और सोचें, कि मनुष्य की थोड़ी-सी सावधानी से दुनियाँ में कितनी मुसीबत घट सकती है, और कितनी ख़ुशी बढ़ सकती है, तो वे ज़रूर उस छान-बीन से लाभ उठाकर अपना काम समझ-बूझ कर पूरा कर दें।

इस वक़्त उस छानबीन की विशेष चर्चा करने का मौक़ा नहीं है।

दिल्ली ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन से आप इस विषय पर कुछ-न-कुछ सुनते ही रहते हैं। भिन्न-भिन्न अवस्था के बच्चों के स्वास्थ्य के लिए क्या उपाय करने चाहिए; उनके लिए भोजन कौन-सा उपयुक्त है; उनमें सोने-जागने, खाने-पीने, पेशाब-पाखाने के वक्त की पाबन्दी की आदतें किस तरह डालनी चाहिए? ये बातें शायद आप इससे पहले सुन चुके हैं। मैं तो इस समय केवल उन्हीं गुत्थियों की चर्चा करता हूँ, जो अक्सर माँ-बाप और अभिभावक लोग अनजाने ही अपने बच्चों के मस्तिष्क में डाल देते हैं, और उनमें भी बस कुछ मोटी-मोटी बातों को। इस सम्बन्ध में सबसे ज़्यादा याद रखने की बात यह है कि नन्हा-सा बच्चा भी अपना एक व्यक्तित्व रखता है, वह कोई बेजान चीज़ नहीं—खिलौना नहीं। जब लोग इसे गुड़िया से ज़्यादा नहीं समझते हैं, तो यह उसी वक्त से चुपचाप अपने लिए कोई उद्देश्य—कोई मंज़िल निश्चित कर लेता है, और उस तक पहुँचने की बराबर कोशिश करता रहता है। सारी दुनियाँ को उस उद्देश्य की दृष्टि से देखता है, और अगर अपने निकट की परिस्थितियों को ग़लत समझकर यह उद्देश्य निश्चित कर लिया है, तो सारी दुनियाँ को ग़लत समझना पड़ता है। अपने छोटे होने, कमज़ोर होने, बड़े भाई से छोटे होने या चहेते भाई की बदसूरत बहन होने—माँ-बाप के तुच्छ समझने—यानी अपनी तरह-तरह की कमियों का इसे अनुभव होता है। यह अनुभव इसकी कल्पना-शक्ति को जाग्रत कर देता है, और यह अपनी दशा को सुधारने और अपनी स्थिति के उन्नयन में लग जाता है। कमी या हीनता का अनुभव, और हीन-भावना के निवारण का प्रयत्न—ये दो चीज़ें इसके जीवन का केन्द्र-बिन्दु होती हैं। इनमें ग़लती होती है, तो सारा जीवन ही ग़लत राह पर पड़ जाता है। माँ-बाप की ओर से शिक्षा के सम्बन्ध में मूलतः ग़लतियाँ ये होती हैं, कि वे या तो बच्चे में कमी और घटियापन की अनुभूति बड़ी तीव्रता के साथ पैदा कर देते हैं, या उसके निवारण के प्रयत्नों में स्वयं बाधक बन जाते हैं। इन्हें विशेष रूप से उकसाकर ग़लत रास्ते पर जाने देते या डाल देते हैं। कमियों का ठीक अनुभव हो और उनको पूरा करने के लिए ठीक उपाय भी हो, तो

बच्चे का उचित रूप से विकास होता है। मगर उनमें से किसी में अति हुई और सन्तुलन बिगड़ा! उदाहरण के लिए माँ-बाप की बातचीत से, उनके व्यवहार से, उनकी सख्ती से, उनके बुरा-भला कहने से, अगर बच्चे में अपने घटिया और हीन होने का अनुभव अधिक तीव्र हो जाए, तो यह उससे बचने के नित्य नए उपाय किया करता है, आगे बढ़ना चाहता है, और अच्छा बनना चाहता है, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। यह सब अपनी जगह पर ठीक है। लेकिन अगर यह चीज़ उचित सीमा से आगे बढ़ जाए, तो इसीसे बच्चे में कीना-कपट और द्वेष-भाव पैदा हो जाता है। ऐसे बच्चे, अपने प्रतिद्वन्द्वियों का—भाई का—बहिन का—दूसरे बच्चों का, अहित चाहने लगते हैं; अपनी क़दर बढ़ाने के लिए दूसरों की चुग़लियाँ खाते हैं, उन पर झूठे आरोप लगाते हैं, उनके भेद खोल देते हैं, और कभी-कभी तो ये बड़ा घातक और विद्रोही रूप धारण कर लेते हैं; और ये नन्हे-नन्हे बच्चे दूसरे बच्चों को शारीरिक हानि पहुँ-चाने से भी नहीं चूकते। कभी-कभी यह होता है, कि माँ-बाप और स्नेही-सम्बन्धी भी, बच्चे की आगे बढ़ने की आकांक्षा को अनुचित रूप से उभार कर, तीव्रता को और दूसरों से बढ़-चढ़कर रहने की इच्छा को, एक मर्ज़ बना देते हैं। अपने बच्चे को दर्जे के इम्तिहान में अव्वल नम्बर पर देखने की व्यर्थ की उत्सुकता, न जाने कितने भले मानसों से यह सब कराती है। इस बनावटी प्रोत्साहन से बच्चे की मानसिक स्थिति में एक तनाव पैदा हो जाता है, जिसको वह अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। उस अधूरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए—जिस पर बड़ों ने उसका ध्यान जमा दिया है, और जिसमें सफल होने पर इसे उनसे प्रशंसावाद मिल सकता है—यह बच्चा अपनी सारी शक्ति बस उसी पर लगा देता है। इम्तिहान में अव्वल आना है, बस किताबें हैं, और यह है। न खेल की सुध, न व्यायाम का ध्यान। सारी दुनियाँ तज दी जाती है। कुछ दिनों तक तो यह दूसरों की उम्मीदों को पूरा करने में लगा रहता है, मगर उनकी बोझिल और एकांगी या सीमित आशाओं का भार इसके कमज़ोर कन्धों के लिए असह्य हो जाता

है। लेकिन इसे दूसरों से प्रशंसा पाने का चस्का पड़ जाता है। इसलिए छोटी-छोटी महत्वहीन बातों में सफलता पाकर उनका विज्ञापन किया करता है। और जब इसकी सम्भावना भी नहीं रहती, तो प्रायः बिलकुल नई और भिन्न राह अपना लेता है, कि बिना लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किए, इसे चैन नहीं पड़ता। सोचता है, बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा? घर से ग़ायब रहने लगता है, मदरसे से भागता है, मार-कूट होती है—उसे भी मशहूर होने का एक साधन समझता है। इस जैसी मुसीबत में पड़े हुए और लड़के भी होते हैं। यह उनके गिरोह में जाकर मिलता है, उनकी सरदारी के लिए अपराधियों के-से बुरे-बुरे काम करने पर उतर आता है। और यह सब क्यों? इसलिए कि बाप का बड़ा आग्रह था कि बच्चा पहले नम्बर पास हो। मज़ा यह है, कि अक्सर अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों यानी पढ़े-लिखे बापों के बच्चे इस मुसीबत में ज़्यादा पड़ते हैं। यह शायद इसलिए कि इन धुरन्धर विद्वानों को अव्वल नम्बर पास होने वाले बेटे का बाप होना बहुत पसन्द होता है।

इसके बिलकुल विपरीत एक भूल माँ-बाप और बड़ों से यह होती है, कि वे बच्चे को हीन और तुच्छ समझते हैं। अपना बड़प्पन जताने के लिए इन्हें बेचारा बच्चा ही मिलता है। बुद्धू है, गधा है गधा, निकम्मा है, किसी मतलब का नहीं—यानी बात-बात पर बच्चे पर बरस पड़ते हैं, उसे शर्मिन्दा करते हैं! सबके सामने उसके दोष गिनवाते हैं—उसका अपमान करते हैं। ये ही बच्चे जिन पर बड़ों की बड़ी देख-रेख होती है, बड़े होकर किसी चीज़ को अच्छा नहीं समझते, हरेक को उटकाते हैं। न किसी की तारीफ़ करते हैं, न तारीफ़ सुन ही सकते हैं। बचपन में इन्हें अपमानित किया गया था, अब ये उसका बदला लेते हैं, और सबको बुरा समझते हैं। दुनियाँ से तो जैसे इनकी अनबन होती है। बच्चे को बचपन में अपमानित और निराश करके बुज़ुर्ग उसकी सारी जिन्दगी को दुखी और बेकार बना सकते हैं।

बचपन में कुछ मौक़े ऐसे आते हैं, जब कि बच्चे को अपनी कमियों

का—दूसरों से हीन होने का तीव्र अनुभव हो जाता है। यही समय बच्चे को सहारा देने का होता है। इस समय की थोड़ी-सी भूल या असावधानी से उसके मानसिक जीवन को एक अपूरणीय क्षति पहुँच सकती है। इन मौक़ों की चर्चा आगे फिर किसी मौक़े पर कर दूँगा।

मेरी ये बातें सुनकर शायद कोई साहब कहने लगें, कि यह अजीब मामला है। बच्चे की हिम्मत बढ़ाइए तो आप नाराज़, उसे बुरा कहिए तो आप नाख़ुश! आप भी ख़ूब आदमी हैं। हाँ, क्या कीजिये? मामला कुछ यों ही है। न ज़रूरत से ज़्यादा तारीफ़ बच्चे के लिए अच्छी है, न बेजा सख़्ती, न इतना गिराइये कि फिर क़दम ही न उठा सके, न इतना चढ़ाइये कि ज़मीन पर पाँव ही न रखे! छोटी-सी बात है, अगर वह समझ में आ जाए! यानी बच्चे को ईश्वर का अंश समझिए। न वह आपकी सम्पत्ति है, न वह आपका खिलौना। वह तो आपके पास ईश्वर और मनुष्यता की एक धरोहर है। उसको जो सहज वृत्तियाँ प्रकृति ने प्रदान की हैं, उन्हें न बहुत उकसा कर बिगाड़िए, न बहुत दबा कर। और हाँ, इस बात का दूसरा पहलू भी याद रहे कि अगर बच्चा आपका खिलौना नहीं है, तो आप भी बच्चे के खिलौने नहीं। आप भी ईश्वर के अंश हैं—बस कुछ अधिक अनुभवी! न आप उस पर ज़ुल्म करें, न वह आप पर। न आप उससे खेलें, न वह आपसे। दोनों में एक-दूसरे पर भरोसा हो, प्रेम हो, और अगर ईश्वर दे, तो आप में कुछ थोड़ी-सी और समझ! बस!

[यह भाषण १० मार्च, सन् १९३९ ई० को ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।]

बच्चों का विकास

: २ :

कोई तीन हफ़्ते हुए, मैंने आपसे बच्चों के विकास के बारे में कुछ बातें की थीं। बातें भी कुछ यों ही थीं और वक्त भी बहुत गुज़र गया। इससे यक़ीन है, कि आप सब कुछ भूल गए होंगे। और मैं आज भी वही पुरानी कथा फिर दुहराऊँ, तो शायद ही कोई पकड़ पाए। मगर पास आग़ा साहब खड़े हैं, क्यों इसकी इजाज़त देने लगे? इसलिए कुछ और ही कहना पड़ेगा। मैंने उस बार बतलाया था, कि बच्चे के मानसिक जीवन में दो चीज़ों पर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। एक, उसके इस अनुभव पर कि वह औरों से कम है, और दूसरे, इस कमी को दूर करने के लिए उसकी कोशिशों पर। इन्हीं दो चीज़ों से उसके मानसिक जीवन का साँचा बनता है, इन्हीं में उसे सहारे और निर्देश की ज़रूरत होती है; और इसमें माँ-बाप से प्रायः ग़लतियाँ हो जाती हैं। आज मैं यह बतलाना चाहता हूँ, कि ये ग़लतियाँ आम तौर पर खास-खास मौक़ों पर ही होती हैं। अगर माँ-बाप इनसे सावधान हो जाएँ, तो शायद इन ग़लतियों से बचने में आसानी हो।

सबसे पहले तो उन ग़लतियों से बचने की ज़रूरत है, जो माँ-बाप इसलिए करते हैं कि उन्हें या तो अपने बच्चे के उन शारीरिक विकारों का ध्यान नहीं होता, जो वह साथ लेकर पैदा हुआ है, या मालूम होते हुए भी उधर ध्यान नहीं देते, और उन कमियों के कारण बच्चे को जो कठि-नाइयाँ झेलनी पड़ती हैं, उन पर कोई ध्यान नहीं देते। कितने बच्चे हैं,

जो आँख के प्राकृतिक विकारों के कारण कभी सुगमता से लिख-पढ़ नहीं सकते—किसी को दोहरा दिखाई देता है, किसी के सिर में पढ़ने से दर्द होने लगता है। ये बच्चे जब पढ़ने-लिखने में औरों से पीछे रहते हैं, तो बजाय इसके कि इनकी असली मुश्किल को हल किया जाए, इन्हें बुरा-भला कहा जाता है, सज़ा दी जाती है। बच्चा अपनी लाचारी को समझता नहीं—सज़ा को ज़ुल्म जानता है, और अपने बस-भर उससे बचने के नए-नए उपाय निकालता है, या अपनी असमर्थता का विश्वास करके परिश्रम और लगन से हाथ खींच लेता है। आपको यह सुनकर ताज्जुब होगा, कि बच्चों में बहुत बड़ी संख्या प्राकृतिक रूप से ही बैंहथों की (बाएँ हाथ से काम करने वालों की) होती है। आप परखना चाहें तो बच्चों के किसी समूह से कहिए कि अपने पंजे में पंजा डालो। जिन बच्चों का बायाँ अँगूठा सीधे अँगूठे के ऊपर हो, वे प्राकृतिक रूप से बैंहथे हैं। यह तरीक़ा सौ फ़ीसदी सच्चा नहीं। लेकिन लगभग ठीक नतीजे बता सकता है। इन अनगिनत बैंहथे बच्चों को रहना-सहना है बैंहथों की दुनिया में! गुज़र करने को तो करते ही हैं, लेकिन इनकी कठिनाई पर विचार करना चाहिए, और इनसे कुछ तो हमदर्दी ज़रूरी है। अगर आप हिन्दुस्तान से, जहाँ सड़क पर बाएँ हाथ को बचते हैं, जर्मनी जाएँ जहाँ दाहिने हाथ को बचना होता है, तो आपको इन ग़रीब बच्चों की कठिनाई का कुछ अन्दाज़ हो सकेगा। महाशय! क़दम-क़दम पर किसी-न-किसी से माँफ़ी माँगनी पड़ेगी, या डाँट सुननी होगी। अगर आप ख़ुद अपनी मोटरकार चला रहे हों, तो ख़ुदा जाने क्या गुज़रे? मगर इससे बहुत ज़्यादा मुसीबत इन बैंहथे बच्चों को आपकी बैंहथी दुनियाँ में उठानी पड़ती है। सीधे हाथ से लिखना सिखाया जाता है। जब अच्छा नहीं लिखते, तो बुरा-भला सुनना पड़ता है। क्या ताज्जुब है, कि बहुतेरे भले मानसों का लेख ऐसा ख़राब होता है, कि लिखना भी, कुछ लोगों के बोलनें की तरह, भेदों को छिपाने का साधन बन जाता है! यह बात नहीं कि ये बच्चे कुछ कोशिश करके भी लिखने में निपुण नहीं हो सकते। कुछ प्रसिद्ध चित्रकार भी—

जो सीधे हाथ से काम करते थे—वास्तव में बेंहथे ही थे। मगर ज़रूरत इसकी है कि बच्चों की कठिनाई को समझकर उन्हें प्रोत्साहित किया जाए, न कि डाँट-फटकार से इन्हें हठी बनाया जाए या निरुत्साह किया जाए! यही हाल आँख, कान के बहुत-से विकारों का है।

जन्मजात विकारों के बाद बच्चे के भावी मानसिक विकास के लिए खतरे का एक समय वह होता है, जब इसका दूध छुटाते हैं। प्रायः जिस तरह धोखा देकर, डरा-धमका कर दूध छुटाते हैं; माँ इस समय जिस तरह बच्चे से छिपी-छिपी, अलग-अलग रहती है—वह बच्चों में माँ की दुनियाँ की ओर से ऐसा अविश्वास पैदा करने का सामान होता है, जो अक्सर सारे जीवन साथ नहीं छोड़ता। माँ की गोद और माँ का दूध, यही तो बच्चे के सारे आनन्द और उल्लास की पूँजी थी, अब चालों से उसे इससे वंचित किया जाता है। तो, जिस पर बच्चों को सबसे ज़्यादा भरोसा था, उस पर वह अब सन्देह करने लगता है। दूध छुटाने के साथ यह ज़रूरी नहीं कि माँ बच्चे से अलग-अलग, दूर-दूर भी रहे, और उसे अपने स्नेह से और अपनी गोद की आत्मबल देने वाली भरक से भी दूर रखे। इस समय तो बच्चे से और अधिक स्नेह करने की ज़रूरत है, जिससे कि वह अपने जीवन के इस पहले परिवर्तन की अनुभूतियों के बीच आसानी के साथ गुज़र सके।

एक और खतरे का वक्त वह होता है, जब बच्चा बोलना शुरू करता है। बोलना तो एक सामूहिक चेष्टा है, और बोलने की क्षमता सामूहिक अनुभव से ही विकास पाती है। जो बच्चे दूसरों से बे-झिझक मिलते हैं, वे जल्दी बोलना सीखते हैं; जो ठिठके-ठिटके अकेले रहते हैं, वे देर में। पर बच्चों का यह ठिठकना और झिझकना अकारण नहीं होता। इसका कारण भी अपने पर भरोसे की कमी होती है। इसलिए यह ज़रूरी है, कि इस समय बच्चों को मिलने-जुलने का मौक़ा दिया जाए, इनकी हिम्मत बढ़ाई जाए, और इनमें स्वावलम्बी होने की आदत भी डाली जाए; खेल-कूद और सहल-सहल काम करने के मौक़े निकाले जाएँ, जिससे उनमें सफल

होकर इनका ढाढ़स बँधे और अपने पर भरोसा बढ़े, और ये अपने घटिया होने के विचार पर, और दूसरों से हीन बने रहने की दुर्बलता पर विजय पा सकें। कुछ माँ बाप, विशेषकर मालदार, अपने बच्चों के ऊपर इतने नौकर-चाकर नियत कर देते हैं, और लाड़-प्यार में इतनी अधिक देखभाल कराते हैं कि ग़रीब को अपनी ज़रूरतों को बतलाने का मौक़ा ही नहीं मिल पाता। उसके बतलाने से पहले ही कोई-न-कोई उसे पूरा करने को तैयार मिलता है। इसलिए ये अक्सर बहुत देर में बोलना सीखते हैं, और वह भी कुछ यों ही। बदायूँ के वह मशहूर लल्ला, जो काफ़ी बड़ी उम्र तक अपनी अन्ना की उँगली थामे बाहर निकलते थे, इन्हीं मालदार अभागों में से थे। यही बात थी कि बड़े होने पर भी तुतलाते थे। किसी ने पूछा "मियाँ साहबजादे, क्या पढ़ते हो?" तो शरमाए, चेहरा लाल हो गया, अन्ना के लहँगे से मुँह आधा छिपा लिया और बोले, जी हाँ बोले, "अन्ना टू ही टह दे, वलूले ढुल्ले (वैलूलै कुल्लें) पल्था हूँ।"

हकलाने की आदत भी अक्सर, बिना किसी शारीरिक विकार के, बचपन में, इसी वजह से पैदा हो जाती है। दूसरों से मिलने-जुलने में किसी कमी के अनुभव करने से, दूसरों के अटकाने से, और माँ-बाप के बुरा कहने से भी झिझक पैदा हो जाती है। यही कारण है, कि बोल-चाल के द्वारा दूसरों से मेल-जोल करने में कोई सुविधा मिल जाए, उदाहरण के लिए किसी लिखी हुई या याद की हुई कविता को पढ़ना हो और इस तरह कि ख़ुद सोचना न पड़े, और सुनने वाले की ओर से ध्यान हटा लेना सम्भव हो, तो हकलाने में बहुत कमी हो जाती है। अक्सर हकलाने वाले ग़ुस्से में बिलकुल नहीं हकलाते—ख़ूब जल्दी और साफ़-साफ़ सुनाते हैं। एकान्त प्रेम और मुहब्बत की बातों में भी, कहते हैं, कि हकलाहट जाती रहती है। ....लेकिन दूसरों से मिलने-जुलने की कठिनाई के अलावा एक और वजह हकलाहट की आदत पड़ जाने की यह होती है, कि बच्चा हमेशा दूसरों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचना चाहता है। जो बच्चे शुरू से साफ़ बोलते हैं, उनकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। पर जिन बच्चों की बोली में

कोई त्रुटि या दोष होता है, उनकी तरफ़ सब ध्यान देने लगते हैं। उसे छेड़ते हैं, उस पर हँसते हैं, उसकी नक़ल करते हैं। तो लाचार बच्चा भी अपनी बोली की तरफ़ ज़्यादा ध्यान देने लगता है, और इस तरह बोलना और भी मुश्किल हो जाता है। बहुत-से काम जिन्हें आदमी स्वाभाविक रूप से निस्संकोच होकर करता है, अगर उनकी तरफ़ ध्यान चला जाए, तो करना मुश्किल हो जाता है। इस बात पर मुझे अपने एक मित्र की कहानी याद आई। यह नार्वे के रहने वाले बहुत वृद्ध आदमी थे, कोई सत्तर-पचहत्तर की उम्र थी। कई साल हुए परलोक सिधार गए। कहेंगे कि किस बात पर याद किया? उनकी दाढ़ी बड़ी शानदार थी, ऐसी-वैसी नहीं—बिलकुल टूँडी तक और बहुत-ही घनी—सफ़ेद जैसे 'बुराक'। एक दिन रेल में बैठे जा रहे थे। सामने एक महिला बैठी थीं और उनकी आठ साल की लड़की। यह बच्ची पहले तो कई मिनट तक हरनीलजोन की तरफ़ देखती रही। फिर माँ के कान में कुछ कहा। माँ मुस्करा कर चुप हो रही। उसने फिर माँ से पूछा, "पूछूँ"? माँ चुप रही। फिर कहा, "पूछूँ"? तो माँ ने कहा "पूछ"। बच्ची हरनीलजोन साहब के पास नम्रता से आकर खड़ी हुई, और कहा, "दादा अब्बा, एक बात पूछूँ?" हरनीलजोन ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा, "बेटी पूछो"। बच्ची बोली, "दादा अब्बा! तुम रात को सोते वक़्त यह दाढ़ी लिहाफ़ के अन्दर रखते हो या बाहर?" ग़रीब दादा अब्बा ने बहुत सोचा, मगर समझ में न आया कि क्या जवाब दें। आदमी सच्चे थे, कह दिया "बेटी याद नहीं आता।" ख़ुद कह रहे थे, कि उस दिन दिन-भर यही ध्यान रहा। रात हुई, सोने लेटा, तो पहले दाढ़ी लिहाफ़ के अन्दर रखी, जी घबराया, बाहर रखी। फिर बेकली-सी रही। इसी अन्दर-बाहर में तीन पहर रात बीत गई। आख़िर उठ कर एक सोफ़े पर बैठा, पैरों पर कम्बल डाल लिया, तो आँख लगी। हाँ, तो हकले बच्चे भी जब अपनी बोली की तरफ़ ध्यान देने लगते हैं, तो उनके लिए बोलना और भी मुश्किल हो जाता है, और कमज़ोर या किसी हिनता का अनुभव करने वाले बच्चों को, अपनी इसी नई

कमजोरी से, बड़ों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का एक—और साधन हाथ आ जाता है। इसी तरह अपनी कमी का अनुभव करने वाले बच्चे, जब कोई ठीक साधन अपनी कमियों को पूरा करने का नहीं अपना पाते, तो कुछ कमजोरों की नीति से ही काम लेते हैं, और दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अनुचित उपाय सोचते हैं। जैसे यह कि काम में सुस्ती करने लगते हैं; बीमार बन-बनकर पड़ जाते हैं; खाना नहीं खाते; और कुछ नहीं बन पड़ता तो बिस्तर पर पेशाब कर देते हैं; विशेषकर जिस खाने को माँ खिलाना चाहती है, उससे इन्कार होता है। माँ की तरफ़ से खुशामद होती है, फिर धमकियाँ, फिर ठुकाई। इनका उद्देश्य सबसे पूरा होता है, अगर औरों का ध्यान आकर्षित कर लिया। धीरे-धीरे खाने से अरुचि उत्पन्न हो जाती है, और ये बच्चे कभी-कभी सचमुच बीमार भी पड़ जाते हैं। बिस्तर पर पेशाब करने का कारण भी प्रायः कोई शारीरिक विकार नहीं होता। बच्चे का मसाना और आँतें ठीक होती हैं। यह तो बस माँ-बाप या अध्यापक का ध्यान आकर्षित करने की एक चाल होती है। इस पर दण्ड देने से हठ या ध्यान आकर्षित करने की सफलता उसे वह सब करने को उकसाती है, जो व्यवहार में आने पर धीरे-धीरे उसकी एक आदत बन जाती है। अगर इन परिस्थितियों में तिब्बी इलाज की जगह मानसिक चिकित्सा की जाए, यानी बच्चे की ध्यान आकर्षित करने की प्रवृत्ति को किसी और तरह नष्ट कर दिया जाए, उसका विश्वास प्राप्त किया जाए, उसे प्रोत्साहित किया जाए, तो निस्सन्देह बड़ी सफलता मिले। इसके विपरीत बच्चे को दूसरों के सामने शर्म दिलाना बड़ी ग़लती है। इससे बच्चे में अपने ऊपर भरोसा और-कम हो जाता है, और मर्ज़ घटने की जगह बढ़ता ही है!

फिर, बच्चे के विकास में एक बड़ी अड़चन तब और आती है, जब उसके दूसरे भाई-बहिन पैदा होते हैं। जिस परिवार में बहुत-से बच्चे हों, वहाँ सबसे बड़ा बच्चा बहुत दिनों तक अकेला बच्चा होता है। यह गौरव दूसरे बच्चों को नहीं मिल पाता। जब पीठ का बहिन-भाई पैदा होता है,

तो इस बड़े भाई को ऐसा लगता है कि उस नवागन्तुक (नौवारद) ने मुझे गद्दी से उतार दिया, और इसमें माँ-बाप ने उस अजनबी की मदद की और मेरा निरादर किया। वह अगर इस पर माँ-बाप से और नवागन्तुक से नाराज़ होता है, तो क्या बेजा करता है ? अगर खोए हुए महत्त्व को फिर पाने के लिए कोशिश करता है, तो क्या ताज्जुब ? और यही होता है। मैं एक परिवार को जानता हूँ। उसमें दो बच्चे हैं, एक भाई, एक बहिन ! बहिन छः बरस छोटी है। भाई की उम्र ग्यारह बरस की है। बाप इंश्योरेंस कम्पनी के एजेंट हैं। हमेशा दौरे में रहते हैं। विवाह के बाद चार साल तक निस्सन्तान रहे। देवी-देवताओं की बड़ी मान-मनौती, तावीज़-गंडों और इलाज के बाद बच्चा पैदा हुआ, इसलिए वह और भी माँ की आँख का तारा था। उसने जो चाहा वही हुआ। बच्चे की माँ एक लिखी-पढ़ी सभ्य स्त्री है। बच्चे का सामान्य विकास अच्छा हुआ था। तीसरे दर्जे तक मदरसे में भी वह बड़े शौक़ से पढ़ने जाता था। सब इम्तिहानों में बराबर पास होता था। लेकिन इधर दो बरस से उसका हाल ही कुछ और है। माँ को तरह-तरह से तंग करता है, मारता है, बाल खींचता है। मेहमानों के सामने तो ख़ास तौर पर बदतमीज़ी करता है, कपड़े फाड़ता है, मैला रहता है। अध्यापक बराबर शिकायत लिख-लिखकर घर भेजते हैं। आप समझे कि मामला क्या है ? बात यह है कि बहिन ने इसकी ज़िन्दगी का साँचा बदल डाला। उसका आना ही इसे बुरा लगता था। जब वह तीन साल की हुई और अपने मीठे-मीठे बोलों से माँ का मन लुभाने लगी, यह मदरसे में रहता और वह माँ की गोद में ! बाप भी दौरे से आते, तो उसीसे बातें ज़्यादा करते। यह इसे भला कब सहन था। अब यह उसे बहिन कैसे समझता ? उसे दुश्मन समझता है—अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता है। इसकी गद्दी छिन गई। आप कहते हैं कि यह कोई उपाय न करे। उसी गद्दी को फ़िर से पाने के लिए यह नादानी की चेष्टाएँ करता रहता है। ये कोशिशें वास्तव में बच्चों-जैसी हैं। आपका जी चाहे, इन पर हँसिए, मगर इसके दिल से पूछिये कि इसे यही उपाय आता है। ऐसी बदतमीज़ी से ही यह

माँ का, बेवफ़ाओं का, ध्यान अपनी ओर खींचता है। अध्यापकों की ख़राब रिपोर्टों से खुश होता है, इसलिए कि एक बार किसी अध्यापक ने यह कह दिया था कि 'तुम पढ़ते-लिखते नहीं हो, हम तुम्हारा नाम काट देंगे। तुम घर ही पर पढ़ा करो।' इससे उम्मीद हो गई है कि मदरसे से मुक्ति पाकर घर पर रह सकूँगा, तो दिन-भर वह दुश्मन बहिन माँ पर अधिकार न रख सकेगी। यानी इस बच्चे ने सारा जीवन इसी एक विचार पर केन्द्रित कर दिया है। लेकिन क्या यह सब होना आवश्यक और अनिवार्य है, नहीं। अगर माँ बड़े बच्चे को, छोटे के जन्म से पहले ही, इस घटना के लिए तैयार कर ले, तो इसमें बहुत-कुछ कमी हो सकती है। फिर अगर दुश्मनी की इस सम्भावना का भी ध्यान रहे, तो यह अपने इस प्रकार वंचित होने को इतनी गहराई से अनुभव न करे। सभ्य और समझदार माताओं में यह विवेक होना चाहिए कि वे इस बड़े बच्चे के लिए उस नवजात शिशु के जन्म की घटना को एक प्रतिद्वन्द्वी की नहीं, वरन् सचमुच एक भाई, दोस्त या साथी के आगमन की शुभ घटना का रूप दे दें।

अधिक बच्चों वाले परिवार में प्रायः इस बात से भी बच्चों की मानसिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है, कि उनका स्थान उन बच्चों में क्या है? प्रायः सबसे छोटा बच्चा या तो सबसे तेज़ होता है, या बिलकुल निकम्मा। कारण स्पष्ट ही है। यह सबसे कम होता है, इसलिए सबसे आगे बढ़ना चाहता है। अगर क्षमता है और परिस्थिति अनुकूल है तो यह तेज़ी से बढ़ता है, और सबसे आगे निकल जाता है। अगर शक्तियाँ उत्साह का साथ नहीं देतीं, तो यह बिलकुल शिथिल होकर निराशा से कन्धा डाल देता है। सबसे छोटे बच्चे के लिए यह ख़तरा भी है कि कुछ न हो, और यह सम्भावना भी कि सब कुछ हो जाए। इसकी अपेक्षा सबसे बड़ा बच्चा प्रायः शक्ति का पुजारी, बल-प्रयोग का समर्थक, सरकार और क़ानून का साथी होता है; क्योंकि इसने अपने पूर्ण महत्त्व की महिमा देखी है, और जब दूसरे बच्चों के जन्म लेने से यह अधिकार या महत्त्व कुछ छीना गया, यह तब से उसे और भी क़ीमती समझने लगा है।

माँ-बाप अगर उन अवसरों पर, जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, थोड़ी सावधानी से काम लें, तो बच्चे की जिन्दगी में पेच न पड़ने पाएँ। आवश्यकता है स्नेह के साथ थोड़ी-सी समझ और थोड़ी-सी जानकारी की, और हाँ धीरज की भी! स्नेह तो, कहते हैं, माँ-बाप का बच्चों से होता ही है, मगर ये पिछली तीन बातें प्रायः कुछ कम-ही मिलती हैं।

[यह भाषण ८ अप्रेल, सन् १९३६ ई० को ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।]

बच्चों का विकास

: ३ :

आपको याद हो या न हो, इससे पहले मैं बच्चों के विकास के बारे में आपसे दो बार बातें कर चुका हूँ। रेडियो का इन्तज़ाम कुछ ऐसा है, कि बस आदमी अपनी सुनाता है—दूसरे की नहीं सुनता। मगर अभी भगवान् की दया से डाक का महकमा सलामत है, इसलिए यहाँ से पन्द्रह मिनट बातें करके चले जाइये, तो यह नहीं कि बात आई-गई हुई। तीसरे ही दिन से खत आना शुरू हो जाते हैं, और अजीब-अजीब, भाँति-भाँति के। बहुत-से झूट-मूट की तारीफ़ लिख भेजते हैं। कुछ लोग—किसी छोटी-सी बात पर—जैसे यह कि दो शब्द आपने ऐसे बोल दिए, जो उनकी समझ में, जिसके लिये कोई पैमाना नहीं, नहीं आए—नाराज़ भी होते हैं। बहुत-से लिखते हैं, कि अब की बार यह बात ज़रूर कहिएगा; वह बात ज़रूर बताइएगा, और हाँ, यहाँ तक कि जी चाहे तो हमारा नाम भी ले दीजिएगा। तो जनाब सुनिये! आप से निवेदन है कि जिन्होंने ये खत लिखे थे, उन सबका जवाब देना तो मेरे बस की बात नहीं। तारीफ़ करनेवालों को धन्यवाद, नाराज़ होनेवाले साहब को भी धन्यवाद! मुझे यक़ीन है, या समझिये कि मैं देख रहा हूँ कि उनमें से एक साहब तो इस वक्त भी अपने रिसीवर के पास बैठे उसकी एक घुंडी को घुमा-घुमाकर मेरी आवाज़ को, जो कि पहले-ही-से बहुत अच्छी नहीं, और खराब कर रहे हैं, और चाहते हैं, कि जो शब्द इनकी समझ में न आए वह कम-से-कम बहुत ज़ोर से तो

ज़रूर बोला जाए। भगवान् भला करे अलीगढ़ के मशहूर उस्ताद मौलवी अब्बास हुसेन साहब का, कहा करते थे कि "भाई, क़िरत का फ़न (सस्वर-पाठ की कला) ख़त्म हो गया, ख़त्म ! मेरे उस्ताद मरहूम इसके आख़िरी जानने वालों में थे। कहा करते, "अगर 'क़ाफ़' का सही तलफ़्फ़ुज मटके के अन्दर कर दूँ, तो मटका फट जाए।" तो जनाब बटन घुमाने वाले साहब आपसे निवेदन है कि मैं तो अपने देश के लोगों की सीधी-सादी भाषा बोलता हूँ। उसमें 'ऐन', 'क़ाफ़' कहीं-कहीं आ जाता है, तो उसे बुरा नहीं समझता—न आपको ही ऐसा समझना चाहिए। मेरा तो पढ़ने का ढंग भी हिन्दुस्तानी है। मगर फिर भी किसी 'क़ाफ़' का पढ़ना कुछ भी सही हो गया—तो आपके सेट का बल्ब तो फट ही जाएगा। बस, बात सुनिए, और एक-एक शब्द के पीछे न पड़िए। परमात्मा ने चाहा तो सब-कुछ आपकी समझ में आ जाएगा। हाँ, जिन साहबों ने सुझाव भेजे हैं, उनको सबसे अधिक धन्यवाद। वे अब सुनें, उनके सुझावों का बहुत-कुछ उपयोग किया है। चाहे इसमें वह हैदराबाद वाले साहब ख़ुश हों, या झाँसीवाले दोस्त, बम्बई वाले भाई, या ढाकावाले बुज़ुर्ग कि हमारे सुझाव का उपयोग हो रहा है। सच यह है, कि उपयोग सबके सुझावों का हुआ है, और ख़ुद भी मेरा यही कहने का विचार था, यानी क्या ? लीजिए सुनिए :

मैंने अपनी पिछली बात-चीत में यह बताया था कि बच्चे के प्रारम्भिक जीवन में कुछ ख़ास-ख़ास वक्त ऐसे होते हैं, जब उससे अपनी निकट परि-स्थितियों और लोगों के समझने में चूक हो जाती है। और क्योंकि वह बेचारा तो उसे चूक जानता ही नहीं—इसलिए उसी पर अपने जीवन की सारी इमारत उठाए चला जाता है। बुनियाद की ईंट की टेढ़ ऊपर तक जाती है, और वह हमेशा उसको भुगतता है। जैसे मैंने बताया था कि जब बच्चे का दूध छुटाते हैं—जब बच्चा कुछ बातें करना शुरू करता है—जब किसी सख़्त बीमारी से उठता है—जब कभी उसका कोई भाई-बहिन पैदा होता है वग़ैरा-वग़ैरा, इन्हीं कठिन वक्तों में से पहले-पहल मदरसे भेजे जाने

का वक्त भी है। जब बच्चा मदरसे जाता है, तो यों समझिए कि एक नई दुनियाँ में पैर रखता है। जीवन की सड़क के वे मोड़ जहाँ बड़ी होशियारी और सूझ-बूझ की जरूरत है, और जहाँ टकराकर नुक़सान उठा जाने का डर है—उनमें से एक सख्त मोड़ मदरसा भी है। जिस तरह दूसरे मोड़ों के लिये बच्चों को तैयार करके, और उसकी कठिनाई को समझ कर खतरे को बहुत-कुछ घटाया जा सकता है; उसी मोड़ यानी मदरसे के लिए भी बच्चे को तैयार किया जा सकता है। अगर पहले से ही बच्चे को दूसरों से मिलने-जुलने की आदत हो, अगर वह पहले से ही अपने ऊपर भरोसा करके आप अपना थोड़ा-बहुत काम करना सीख चुका हो, अगर अध्यापकों के पास जाने से पहले ही माँ-बाप के स्नेह और उनकी देख-रेख में अपने भाई-बहिन को अपना साथी बनाना जान गया हो, और यह उसे असह्य न हो—तो शायद मदरसे की दुनियाँ उसे उतनी निराली और अनजान न मालूम हो जितनी कि अक्सर होती है। लेकिन होता यह है, कि अक्सर इस तरह की तैयारी नहीं कराई जाती, बल्कि मुद्दतों पहले से बच्चे को मदरसे भेज दिये जाने की धमकी दी जाती है, मदरसे से 'हौए' का काम लिया जाता है—"खबरदार, ऐसा करोगे तो मदरसे भेज दिए जाओगे!"—अब्बा जी कहते हैं। अम्मा कहती हैं, "देखो, यह काम कर लो, नहीं तो मदरसे भेज दूँगी।" बच्चे की कल्पना में इस डरावनी जगह का जो रूप बन जाता होगा, वह फिर कभी ऐसा नहीं बन सकता कि बच्चे के वहाँ पहुँचने पर उस जगह से आसानी से मेल खा जाए।

लेकिन अगर बहुतेरों के लिए इस नादानी से मदरसे जाने और उससे फ़ायदा उठाने का काम कठिन हो जाता है, तो ऐसे बच्चे भी जरूर होते हैं—और बहुत बड़ी संख्या में होते हैं, जिनका घर पर ठीक विकास होता है, और वे जब मदरसे जाते हैं, तो उस कठिनाई के लिए पहले ही से तैयार होते हैं। मगर क्या कहिए कि मदरसे पहुँचकर उनका रंग भी कुछ बदल जाता है, और उनके विकास में भी ऐसी गुत्थियाँ पड़ जाती हैं, जो जीवन-भर सुलझाए नहीं सुलझतीं। हमें इन दोनों प्रकार के बच्चों पर

नज़र डालनी चाहिए। आइये! पहले उन्हें लें जो घर से अच्छे-भले आते हैं। मदरसा उनके लिये हौआ भी नहीं होता, और घर के विकास से वे कोई ऐसा दोष भी साथ नहीं लाते, जिसे न जानने की वजह से मदरसे वालों से बच्चे के समझने और उसकी मदद करने में कोई कमी हो।

इन बच्चों के विकास में सबसे पहले तो मदरसे के सामान्य प्रबन्ध और अनुशासन और अनुशासन की सख़्ती से उलझनें पैदा होती हैं। ये बच्चे जब मदरसे आते हैं, तो सब तन्दुरुस्त बच्चों की तरह खेलने-कूदने, हँसने-बोलने की आदतें अपने साथ लाते हैं। लेकिन यहाँ का अनुशासन इन्हें घंटों चुपचाप बेहिले-डुले बैठने पर मजबूर करता है। यह ज़बरदस्ती से की हुई नेकी इन बच्चों को भला कैसे भा सकती है? मगर ज़बरदस्त मारे और रोने न दे! मदरसा इनके लिये एक मन्दिर हो जाता है, जिसमें अनुशासन के इस विवेकशून्य और निर्दय देवता की पूजा इसके क्रूर पुजारी-अध्यापक बच्चे से ज़बरदस्ती कराते हैं। वह इस बेमानी ज़ुल्म का मतलब नहीं समझता, न कोई इसे समझाता ही है। उस निर्दय देवता की उपासना में या तो इसके मन की सहज उमंग और जोश खत्म हो जाता है, जी बुझ जाता है, और यह भी और कमज़ोरों, ज़लीलों, दबनेवालों की तरह होते-होते उसका आदी हो जाता है; या फिर उससे बचने के जो तरीक़े सोचता है, और ज़ुल्म को ज़ुल्म जानने के बाद उससे मुक्त होने की जो राहें निकालता है, उनसे हमेशा के लिए इसके विकास की संगति और प्रगति में बाधा पड़ जाती है। अच्छे अध्यापक बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं को मारे बिना और उन पर बेजा सख़्ती किए बिना ही उनमें यह आदत डाल देते हैं कि हर बच्चा दूसरे के अधिकार का ध्यान रखे, अपनी स्वार्थ-भावना को समूह और मदरसे के लिए दबाना सीखे, और दूसरों के विचारों और हितों का सम्मान भी करे। मगर अच्छे अध्यापक कम होते हैं, और प्रायः अनुशासन में अनुचित कठोरता ही ठीक जँचती है। उन अध्यापकों में बहुतेरे ग़रीब ऐसे होते हैं कि जिनका प्रारम्भिक जीवन माँ-बाप की मार खाते और अध्यापकों की डाँट-डपट सहते कटा। अब हुकूमत का

मौक़ा मिला, तो दिल खोल कर हुकूमत करना चाहते हैं। और यह मर्ज़ कुछ ऐसा है कि ज्यों-ज्यों हुकूमत का मौक़ा बढ़ता है, यह मर्ज़ बढ़ता जाता है। बहुतेरे ऐसे होते हैं कि सुस्ती और आलस्य की वजह से, उत्साह और कर्मशीलता की कमी से, बस यही अच्छा समझते हैं कि काम एक ढर्रे पर पड़ ले। कौन हर वक्त नई-नई बातें सोचे और नई-नई समस्याएँ हल करे। ये डरते हैं, कि अगर लड़कों में नई सूझ और आज़ादी को बढ़ाया, तो पल-पल पर नई तदबीरें करनी और नई राहें निकालनी होंगी। और उनका दिमाग़ कहाँ? इस मुसीबत में कोई क्यों पड़े? लड़के वक्त पर आएँ, वक्त पर जाएँ, चुपचाप बैठे सुनें और ये जैसे-तैसे सब किताबें ख़त्म करा दें, और रजिस्टरों के काम पूरे कर दें, और तरक़्क़ी के लिये हैड मास्टर साहब की सिफ़ारिश हासिल करें। बस, अल्ला-अल्ला ख़ैर सल्ला! सच है, मशीन बनना आसान है—आदमी बना रहना मुश्किल है। इसी 'तायिफ़े' में, इसी तरह के, वे उस्ताद भी होते हैं, जिन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता। वे हर वक्त डरते हैं कि बच्चों के काम में ज़रा ढील की और ये क़ाबू से निकले। उन्हें अनुभव तो होता है अपनी ऐसी कमियों का, पर बच्चों में एक विरोधी शक्ति का भूत देख-देख कर डरते रहते हैं। बच्चों पर इनका ज़ुल्म सचमुच इसी डर का नतीजा होता है। ये अध्यापक उचित शिक्षा-विकास के विरोधी हैं, और जिन मदरसों में ये लोग कर्त्ताधर्त्ता हैं, उनमें जिस दिन उचित शिक्षा-विकास का प्रबन्ध हो जाएगा, उस दिन चिरायते के बीज बोकर ईख की फ़सल भी काटी जाने लगेगी। ईश्वर को धन्य है कि शिक्षा का काम करनेवाले अब अनुशासन की असलियत को समझने लगे हैं, और शायद वह दिन अब दूर नहीं, जब कि मदरसे का अनुशासन भी हर सच्चे अनुशासन की तरह खुद बच्चों के इरादे पर निर्भर होगा, और उनकी प्राकृतिक क्षमताओं के विकास का साधन बनेगा, न कि उनके विनाश का कारण!

प्रत्यक्ष अनुशासन के भूत के अलावा मदरसों का प्रचलित पाठ्यक्रम भी बच्चों के विकास में बाधक होता है। मनुष्य-जीवन के इतिहास पर नज़र

डालिए ! इसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यह जिन चीज़ों को पहले किसी काम का साधन बनाता है—होते-होते उसी साधन को ख़ुद अपना लक्ष्य बना लेता है। साधन पास होता है और लक्ष्य दूर ! बस साधन ही नज़र में रह जाता है, लक्ष्य ओझल हो जाता है। अभावों की इसी कहानी में मदरसे का प्रबन्ध भी एक अध्याय है। इसने मदरसे अपनी आने वाली नस्लों के मानसिक विकास के लिए बनाए। इस प्रकार के विकास के लिए समाज ने अपनी बनाई हुई मानसिक (ज़हनी) वस्तुओं को साधन बनाया और ठीक बनाया। पर होते-होते ये साधन ख़ुद लक्ष्य बन गए। भाषा, साहित्य, इतिहास, गणित और धर्म—ये सब इसलिए मदरसों में पहुँचे कि बच्चे के विकास का साधन बनें। पर, अब वहाँ ये शासक हैं, और बच्चा शासित। बच्चा वहाँ इसलिए जाता है कि उनका बोझ उठाए, इसलिए नहीं कि ये बच्चे का बोझ हल्का करें। अब कोई नहीं देखता कि इन साधनों से मानसिक विकास होता भी है कि नहीं। ये साधन तो पाठ्यक्रम की 'लाल किताब' में लिखे हैं। इन्हें कौन छेड़ सकता है ? इनका प्रयोग करने से अध्यापकों को तनख्वाह मिलती है—मदरसे को सहायता मिलती है। यह कौन देखे कि इन विषयों (subjects) के ऊँचे-ऊँचे ढेर के नीचे कितने होनहार मस्तिष्क घुट-घुट कर ख़त्म हो जाते हैं ? जीवन-भर शिक्षा-दीक्षा का काम करते हैं, पर यह सोचने का मौक़ा किसे मिलता है कि भला मस्तिष्क का विकास होता कैसे है। माना कि यह एक विरोधी बात है कि शरीर की तरह जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न ग़िज़ाओं से पलता और बढ़ता है, आदमी का मस्तिष्क भी उन चीज़ों से पलता-बढ़ता है, और अपनी प्राकृतिक शक्तियों को बढ़ाता है, जो इससे पहले समाज में दूसरे आदमियों ने अपने मानसिक श्रम से उत्पन्न की थीं। उन चीज़ों में भाषा और साहित्य भी हैं; रस्म व रिवाज भी हैं; ललित कलाएँ भी हैं, इमारतें भी, यन्त्र भी हैं; कल और उद्योग भी—यानी सब कुछ, जिसको पूर्वजों के मानसिक प्रयास ने कोई ऐसा रूप दे दिया है, जो उस मस्तिष्क तक पहुँचाया जा सकता है, वह सब उसके मानसिक विकास के लिए मौजूद है।

इसलिए कि बनाने वाले के मस्तिष्क ने उसमें अपनी जो-जो शक्तियाँ निहित की हैं—सुला दी हैं, वे सब उस बच्चे के मस्तिष्क में आकर खिलती-जगती हैं, तो इससे उसका विकास होता है। याद रखने की बात यह है, कि विकास या तरबियत के दस्तरख्वान पर जो अनगिनत ग़िज़ाएँ चुनी हुई हैं, हरेक मस्तिष्क उन सब को खाकर नहीं पनप सकता। कुछ उसे अनुकूल पड़ती हैं, कुछ नहीं। पर ऐसा क्यों? वह यों कि उन चीज़ों में जो-जो शक्तियाँ छिपी हैं, जो ताक़तें सोई हुई हैं, वे जिस मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब हैं, उसमें और उस बच्चे के मस्तिष्क के प्राकृतिक रूप में कुछ-न-कुछ समानता ज़रूर होनी चाहिए। इस उपयुक्त और अनुकूल स्वाभाविकता की ओस में बच्चे के मन की कली खिल उठती है, और फिर उसके सारे जीवन को अपनी सुवास से सुवासित कर देती है। ऐसा ही सामंजस्य रखने वाले दीपक से उस बच्चे के हृदय का दीपक भी जल उठता है—जो फिर संसार के अँधेरे में डूबी हुई हरेक चीज़ को, हरेक जगह को प्रकाशित कर देता है। प्रत्येक हृदय इस प्रकाश को पाने का अधिकारी है, पर हरेक को यह अधिकार एक-ही तरह से नहीं मिलता। किसी को यह प्रकाश कहीं से मिलता है, और किसी को कहीं से। किसी के मस्तिष्क का विकास साहित्य से होता है, तो किसी का मस्तिष्क गणित (रयाज़ी) से, तो किसी का खिलौनों और यन्त्रों से विकास पाता है। साहित्यिक प्रवृत्ति के मस्तिष्क को यन्त्रों से और यन्त्रों वाले को काव्य के द्वारा विकसित करने की कोशिश करना विकास के महत्त्व की ही उपेक्षा करना है। मदरसे का काम यह है कि बच्चों की मानसिक बनावट का अन्दाज़ करके, उस चीज़ या उन चीज़ों से इसके विकास की व्यवस्था करे, जो इसके लिये उपयुक्त हों; वर्ना हम रोज देखते हैं कि ग़लत कोशिशें केवल बेकार और बेसूद ही नहीं होतीं, बल्कि उन चीज़ों में असफलता मिलने से—जिनसे बच्चों का कोई सम्बन्ध नहीं, पर जिनका जुआ उसकी गर्दन पर बेकार रखा हुआ है—बच्चा हतोत्साह और निराश हो जाता है, और मास्टर साहब के नम्बरों और रिमार्कों और माँ-बाप की जी तोड़ने-वाली चेतावनियों से अपनी कमियों का यक़ीन करके, उसकी कितनी ही

असाधारण क्षमताओं का ख़ून रोज़ हमारी आँखों के सामने होता है। अगर उस्ताद कामियाब कोशिश के जादू और सफल काम के तिलिस्म को समझता हो, जो कि मन्द-बुद्धि के बालकों तक को देखते-देखते कहीं-से-कहीं पहुँचा देता है, तो केवल पाठ्यक्रम की रस्मी पाबन्दी से इस प्रकार उनकी क्षमताओं का ह्रास न करे। वह दिन दुनियाँ के लिए बड़ा शुभ दिन होगा, जब इसके मदरसों में अध्यापक यह समझ लेंगे कि वे किसी ऐसे कारख़ाने के काम करने वाले ही नहीं, जिसमें से सब माल एक-ही ठप्पे और एक-ही मार्के का निकलना ज़रूरी है; बल्कि जो अनेक प्रकार की क्षमताएँ इनके हाथों सौंप दी जाती हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक उन्नत बनाने में योग देना इनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

इन बुनियादी ग़लतियों के अलावा मदरसों में अध्यापकों से कुछ और ग़लतियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे बच्चे के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनमें एक बहुत-ही साधारण भूल— पक्षपात और अन्याय की है। बच्चे जब अध्यापक का अनुचित पक्षपात देखते हैं, तो उन पर बड़ों से कहीं अधिक इसका प्रभाव पड़ता है। वे अभी प्रारम्भिक जीवन के निकट होते हैं, और दुनियाँ के अन्याय का अनुभव न होने की वजह से उन्हें अपनी सादगी में यह चीज़ बहुत खलती है, और चूँकि अध्यापक उनके लिये बड़ों की दुनियाँ का प्रतिनिधि होता है, इसलिये उस पर से भरोसा उठ जाता है, और यों समझिये कि सब बड़ों की न्यायप्रियता की पोल उनकी नज़र में खुल जाती है। बच्चे पर अध्यापकों के पक्षपात, अन्याय और धार्मिक कट्टरता का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि यह प्रायः जीवन-भर दूर नहीं होता, और मदरसे के बहुत-से दूसरे अच्छे प्रभाव भी इस कटु-अनुभव के कारण मिट जाते हैं।

फिर दण्ड-विधान में भी अध्यापक से ऐसी ग़लतियाँ होती हैं कि उचित विकास का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दण्ड का अगर कोई शिक्षा और विकास-सम्बन्धी महत्त्व है, तो बस यही कि यह एक प्रायश्चित्त करने का उपाय है, जिससे मन की खटक दूर हो जाती है। इसलिए दण्ड को

कभी डराने-धमकाने का साधन न बनाना चाहिए, बल्कि इसे अपराध के अनुभव से मुक्त करने का साधन होना चाहिए, वर्ना यह विकास की राह में बाधक होता है। उचित और हितकर दण्ड तभी सम्भव है जब कि बच्चे को अपने अपराध का ज्ञान हो जाए, उस पर खेद और लज्जा का अनुभव हो, और उसके मन में आप ही प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप की भावना जग उठे, वरन् दण्ड फिर आतंक एक ही है, सुधार का साधन नहीं। और शारीरिक दण्ड, चूँकि प्रायः प्रायश्चित्त का रूप धारण नहीं कर सकता, इसलिए विकास के लिए सदा प्रतिकूल पड़ता है। शारीरिक दण्ड प्रायः बच्चों में अनादर की भावना पैदा करता है। किसी को अपमानित करके उसके शिष्टाचार की क्षमता और आत्मिक शक्तियों को उभारा नहीं जा सकता। फिर यह दण्ड शरीर को कष्ट देता है, और शारीरिक कष्ट बिलकुल एक मशीन की तरह हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है, और आत्मा की सभी शक्तियों को विद्रोही बना देता है। विद्रोह का यह भाव, दण्ड मिलने के बाद भी, विरोध के रूप में विद्यमान रहता है; और इस तरह दण्ड देने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इस तरह की और बहुत-सी ग़लतियाँ मदरसे में होती हैं, जिनसे बच्चे के मस्तिष्क का रूप ग़लत साँचे में ढल जाता है, और वह फिर सारे जीवन को उसी के रंग में रँगना चाहता है।

ये सब आपत्तियाँ तो सभी बच्चों पर एक-समान आती हैं, पर उनका क्या हाल पूछिये, जिनके लिये घरेलू विकास की कमियाँ मदरसे को बिलकुल नरक बना देती हैं। उन बच्चों में मदरसे से ज़्यादा तकलीफ़ तीन तरह के बच्चों को होती है। एक तो घर के लाड़लों को, जिन्हें कभी इसका मौक़ा नहीं मिला कि अपना कोई काम आप कर लेते, दूसरे बच्चों के साथ बराबरी का बर्त्ताव करते, मारते तो पिटते भी, कहते तो सुनते भी; हमेशा उनका कहा माना गया, उन्हें खाना किसी और ने खिलाया, कपड़े किसी और ने पहिनाए, मुँह-हाथ तक खुद धोने की नौबत न आई, कभी अकेले न सोए, बस वही मिर्ज़ा फोया। दूसरे, मदरसे में उन

बच्चों को बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं, जो घर पर लाड़-प्यार को तरसते हैं; सौतेली माँ के हाथों तकलीफ़ें उठाते हैं, जिनसे नई माँ ने अब्बाजान की मुहब्बत भी छीन ली और इन्सानियत पर से हमेशा के लिए उनके अब्बा का भरोसा उठा लिया। तीसरे, वे बच्चे हैं, जिनमें कोई शारीरिक विकार होता है। जिन बच्चों में शारीरिक विकार होते हैं—उनके विकास की कठिनाइयों के विषय में पिछली बार कुछ कह चुका हूँ। ये कठिनाइयाँ मदरसे जाते वक्त और बढ़ जाती हैं। प्रायः मदरसों में छात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि ऐसे विकारों की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। फिर अगर यह विकार चेहरे को या शरीर को कुरूप बनाता है, तो इस पर दूसरे बच्चे नादानी में हँसते हैं, बेचारा मरीज़ कुढ़ता है, और उस विरोधियों की दुनियाँ में बड़ा दुखी रहता है। यह जितना घबराता है—दूसरे इसे उतना ही छेड़ते हैं, और आपस में सही मेल-जोल पैदा होने की राह बन्द होती जाती है। अगर विकार आँख-कान का, या कोई छिपा हुआ विकार है, तो बहुत दिनों तक कोई पूछता नहीं। मगर इससे बच्चे की पढ़ाई पर असर पड़ता है। वह फिसड्डी समझा जाता है, डाँट सुनता है, अपमान सहता है, और यों इसके मस्तिष्क में उन तमाम बुराइयों के पैदा होने का सामान होता जाता है, जो अभावों की तीव्र अनुभूति के साथ पैदा होती हैं, और जीवन को ग़लत राह पर डाल देती हैं।

लाड़-प्यार को तरसे हुए बच्चे दुनियाँ के प्रति यों ही अविश्वास करने लगते हैं। इसलिए इस नई दुनियाँ में भी वे हर चीज़ को सन्देह से देखते हैं, और यहाँ पर होती भी कुछ ऐसी स्वार्थपरता और उदासीनता है कि लाड़-प्यार की वह भूख, जो ये साथ लाए हैं, यहाँ भी और तेज़ ही होती है, और उसके शान्त करने का साधन नहीं होता, और यों इनकी मानसिक गुत्थियों में और उलझन पैदा होने का ही डर बढ़ता जाता है। लेकिन सबसे ज़्यादा तकलीफ़ मदरसे में 'लाड़ले मियाँ' और 'मिर्ज़ा फोया' को होती है। ये आदी तो हैं इसके कि सारा घर इनकी ख़िदमत में खड़ा रहे, पहुँचे मुसीबत के मारे मदरसे में। किसी ने धप जमाई, किसी ने धक्का

दिया, किसी ने मुँह चिढ़ाया, लगे रोने तो सब हँसने। मास्टर साहब आए तो यह समझे कि अब्बाजान की तरह बस हमें ही गोद में उठा लेंगे। बेचारे मास्टर साहब के ज़िम्मे शैतानों की एक पूरी फ़ौज होती है। उन्हें उससे पार पाना मुश्किल है। उन्होंने बात भी न पूछी। बस, साहबजादे का सम्बन्ध पहले दिन से ही मदरसे से ख़राब हो गया, और जैसा कि पहले बता चुका हूँ, इस ग़लत ख्याल पर आने वाली ज़िन्दगी की सारी इमारत खड़ी होने लगी। लेकिन क्या इन सब मुसीबतों का कोई इलाज नहीं? देखने में तो यह मालूम होता है कि नहीं है। दुनियाँ का केन्द्र, ऐसा जान पड़ता है, कि अविवेक पर स्थित है। मदरसे के रूप (माहियत) को बदलवाने की कोशिशें हो रही हैं, मगर कौन सुनता है? शिक्षा—पाठ्यक्रम के अन्याय पर, समझनेवाले रोते हैं। मगर जिनके हाथ में व्यवस्था होती है, वे इसे बस पागलों का प्रलाप समझते हैं। बच्चे बरबाद होते हैं—किसी को कानों-कान ख़बर नहीं होती, जानवरों की तरह बच्चों को अध्यापक मारते हैं—किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती। और बहुतेरे बच्चों पर मदरसे में जो आत्मिक और शारीरिक आपत्तियाँ आती हैं, उनका हाल बस उन्हीं का दिल जानता है। मैं हाल में एक किताब पढ़ रहा था, स्वीट्ज़रलैण्ड के एक विद्वान् (Willi Schohaus) की लिखी हुई 'The Dark Places of Education'. इसमें कोई ७८ प्रसिद्ध व्यक्तियों के निजी अनुभवों का संग्रह किया गया है, कि उन पर मदरसे में क्या बीती? पढ़ कर ख्याल होता है कि मदरसा किसी बड़े ज़ालिम की ईजाद है। इसके दुखों की याद उम्र-भर दिल से नहीं मिटती। मगर इस निराशा में आशा की बस एक किरण झाँकती है, वह यह कि अगर मदरसे में एक अच्छा अध्यापक पहुँच जाए, तो इस अँधेरी दुनियाँ को जगमगा देता है। खोखले आदेश, निस्सार निर्देश और मुआइने, रजिस्टर और डायरियाँ सब पड़ी रह जाती हैं, और वह अपने व्यक्तित्व के चमत्कार से मुर्दों को जीवित और जीवितों को और अधिक स्फूर्तिमय बना देता है। बच्चों की उजाड़ दुनियाँ बस जाती है, और मन की मुरझाई कली खिलने लगती है। मगर

आप कहेंगे कि अच्छे अध्यापक होते कहाँ हैं ? "याफ़्तमी नश्वद जुस्ता एम" (जो चीज़ नहीं मिलती मैं उसकी तलाश में हूँ ।) । जी हाँ, सच है, ये कम ही मिलते हैं, मगर मिलते ज़रूर हैं । मुझे भी कुछ अच्छे अध्यापकों के साथ काम करने का गौरव और सौभाग्य प्राप्त है । इसलिए मैं तो निराश नहीं । फिर कभी निवेदन करूँगा कि ये अच्छे अध्यापक होते कैसे लोग हैं ? बस, अब विदा !

यह भाषण २६ अप्रैल, सन् १९३६ ई० को ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया ।]

नन्हा मदरसे चला!

: ८ :

लीजिये, अब आपका नन्हा मदरसे चला! आदमी का बच्चा शुरू-शुरू में ऐसा बेबस होता है, और बड़ा होकर मानवता के जिस स्तर पर उसे पहुँचाना होता है—वह इतना ऊँचा है, कि उसकी शिक्षा में बहुत दिन लगते हैं, और उसके विकास के लिए बड़े यत्न करने पड़ते हैं। इस शिक्षा और विकास के काम में आप, यानी नन्हे के माँ-बाप, अभिभावक, अकेले जो कुछ कर सकते थे—कर चुके। अब शायद आप समझते हैं कि काम केवल आप से न सँभलेगा। इसमें औरों की मदद की जरूरत है। इसलिए नन्हा मदरसे भेजा जाता है। लेकिन शिक्षा और विकास का काम ऐसा मिला-जुला काम है कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ सभी ओर से सिमट कर बच्चे के व्यक्तित्व में इस तरह घुल-मिल जाती हैं, कि उन्हें अलग-अलग करना कठिन है। मदरसा जब इस काम को अपने सिर लेता है, तब तक घर बहुत-कुछ बना-बिगाड़ चुकता है। फिर मदरसे के सुपुर्द होने के बाद भी घर का प्रभाव मिट नहीं जाता। या तो घर और मदरसा साथ-साथ चलते हैं; और एक-दूसरे के काम को समझ कर हाथ बढ़ाते हैं; या वह एक तरफ़ खींचता है—यह दूसरी तरफ़! उसकी ढोलकी अलग और इसका राग अलग!

अब जो नन्हा मदरसे चला, तो देखता यह है, कि आप यानी माँ-बाप और अभिभावक इसे पहले से क्या बना चुके हैं? मगर 'आप' तो न जाने

क्या-क्या हो सकते हैं ? हो सकता है, कि आप उन अभागों में हों, जिनके पास दूसरों का कमाया हुआ धन इतना होता है कि समझ में नहीं आता उसका करें क्या ? धन की विपुलता का बोझ प्रायः अक़्ल की कमी से हल्का होता है। क्या अजब है, कि आपका भार भी कुछ इसी तरह हल्का हुआ हो ? अगर ऐसा है, तो अनुमान यही है, कि आपने नन्हे के विकास का कर्त्तव्य धन-व्यय करके पूरा करना चाहा होगा। नन्हे के लिए अनगिनत, बेकार नौकर होंगे और बेज़रूरत सामान ! तरह-तरह के कपड़ों से बक्स भरे होंगे, लेकिन शायद ही कोई पोशाक इस बच्चे के लिए उपयुक्त होगी। जूतों की लम्बी क़तारें होंगी और नन्हा अक्सर नंगे-पैर रहता होगा। खिलौनों का एक अजायबघर होगा, जिनसे बच्चा कभी का उकता चुका होगा। यह नौकरों पर आपकी नक़ल करके जा और बेजा हकूमत जानता होगा। घर में लाड़-प्यार करने वाली दादी और नानी होंगी, तो उन्हें खुश करने के लिए जब-तब आपको भी कुछ उल्टा-सीधा सुना देता होगा। अपने हाथ-पाँव से काम करने की नौबत मुश्किल ही से कभी आती होगी, क्योंकि यह बड़प्पन की शान के खिलाफ़ है ! बस, खाना खुद हज़्म करना होता होगा, तो शायद यही काम ठीक पूरा न हो सकता होगा। बच्चा चिड़चिड़ा होगा, ज़िद्दी होगा, अशिष्ट होगा, अभिमानी होगा और अब यह मदरसे जायेगा ! आपके किसी दोस्त ने बताया होगा, कि अमुक मदरसे में भेजो वहाँ फ़ीस ज़्यादा है, इसलिए मदरसा ज़रूर अच्छा होगा। आपको अगर फ़ुर्सत मिली होगी, तो एक खत अँग्रेज़ी में हैडमास्टर के नाम लिख दिया होगा, और कुँवर साहब दो-तीन नौकरों और एक-दो धायों के साथ आप की बड़ी मोटर में बैठकर मदरसे में पधारे होंगे। अगर नानी-अम्मा ने एक हफ़्ते के अन्दर-अन्दर बच्चे को मदरसे से न उठा लिया, तो सच मानिए कि मदरसा आपके किए को अनकिया किए बिना अपना कर्त्तव्य मुश्किल ही से पूरा कर सकेगा, और फिर न मालूम कि घर कहाँ-कहाँ मदरसे की राह में रुकावट बनें ?

हो सकता है, कि आप उन स्वावलम्बी मनुष्यों में से हों, जो अपने

परिश्रम और योग्यता से आगे बढ़कर अपने पेशे या कारोबार में विशेष महत्त्व प्राप्त करते हैं, या किसी ऊँचे सरकारी पद पर पहुँच जाते हैं, आपको अवश्य यह चिन्ता होगी कि अपने बच्चे को अपने से और-अच्छी शिक्षा दें। लेकिन आपको खुद इतनी कम फ़ुर्सत होगी कि उसकी देखभाल कोई दूसरा ही करता होगा। लेकिन जिस तरह आप अधिक व्यस्त रहते हुए भी जीवन के सभी प्रधान क्षेत्रों, धर्म, अर्थनीति, राजनीति के सम्बन्ध में बस अन्तिम निर्णय करना और उनका प्रचार अपने अल्पज्ञ और थोड़ी पूँजी-वाले साथियों में करना आवश्यक मानते हैं, और समझते हैं कि इससे अपने व्यस्त जीवन की एकांगी प्रवृत्ति में कुछ सीध पैदा करेंगे; उस तरह आप अपने बच्चे की ओर ध्यान न दे सकने की कमी को, इसके सम्बन्ध में और इसकी शिक्षा के साधनों के सम्बन्ध में, खेद है, कि बिल्कुल अन्तिम निर्णय पर पहुँच कर, पूरा करना चाहते हैं। आप क्योंकि एक सफल मनुष्य हैं, इसलिए अपनी दृष्टि में आप ही मनुष्यता के मान-दण्ड (मयार) हैं! अगर आपकी दृष्टि में कहीं बच्चे का यह रूप अधिक ठीक जँचे कि वह आप ही की सहज क्षमताओं का स्वामी है, तो शायद आपकी राय यह होगी कि आपका बच्चा "जीनियस"—प्रतिभासंपन्न है। इसकी समझ के क्या कहने, इसकी धारणाशक्ति का क्या पूछना? इसे दो कविताएँ ज़बानी याद करा दी गई हैं, जो आप अक्सर इस ग़रीब से अपने मित्रों के सामने पढ़वाते हैं। यह उन्हें एक ख़ास ढंग से सिर हिला-हिलाकर और हाथ बढ़ा-बढ़ाकर सुनाता है। आपने स्वयं अत्यन्त कृपा करके किसी इतवार के दिन इसे कुछ अँग्रेजी के वाक्य रटा दिए हैं। यह रटा हुआ भी इसे लोगों के सामने दुहराना पड़ता है। और इन प्रदर्शनों के बाद आप अपने दोस्तों को यक़ीन दिलाते हैं, कि यह लड़का तो जीनियस है, जीनियस! मगर आपको कौन बताए कि इस ऊँचे मान-दण्ड के अनुसार तो सारे तोते और सारे बन्दर भी जीनियस हैं। और अगर कहीं काम की अधिकता के कारण आपके रग-पुट्ठे कुछ कमज़ोर हो गए हैं, जिगर का काम भी कुछ खराब है, और बदक़िस्मती से बच्चे से कोई मन के विरुद्ध बात भी कई बार हो गई है,

क्योंकि ऐसी दशा में मन के विरुद्ध बात करने के लिए किसी बड़े हुनर की ज़रूरत नहीं, तो आप अपनी सहज-बुद्धि से इस ठीक नतीजे पर भी पहुँच सकते हैं कि वह गधा है ! अपनी दूसरी रायों की तरह आप अपनी इस राय का भी वक्त-बे-वक्त ऐलान करते होंगे, और आदमी के इस बच्चे को गधा बनाने में अपने बस-भर तो कसर उठा न रखते होंगे। और अब आप का यह जीनियस या आपका यह गधा अपने हाथ बड़प्पन का मिथ्यानुमान (superiority complex) या उससे भी अधिक हीनता का मिथ्या-भाव (Inferiority complex) लेकर मदरसे जाता है। देखिए, मदरसा आपकी पैदा की हुई उलझनों को किस तरह सुलझाता है, और आपका हस्तक्षेप करना वहाँ भी कहीं और गुत्थियाँ तो नहीं डालता ? शायद आपका हरदम अपने काम में लगा रहना ही मदरसे को अपना काम करने दे और आपका जीनियस या गधा आदमी बन जाए !

लेकिन सम्भव है, कि न आप अतुल धन-दौलत के उत्तराधिकारी हों, न दिन-रात कमाई के सफल संघर्ष में लीन ! बल्कि साधारण कोटि के ठीक भलेमानस हों। अपनी दुकान रखते हों, किसी दफ़्तर में सौ-सवा-सौ के नौकर हों, किसी मदरसे में अध्यापक हों; रोज़ कुछ समय अपने बच्चों में बिता सकते हों, घर का काम आपकी पत्नी आप सम्भालती हो, नौकर-चाकर न हों, सभ्य और योग्य पत्नी घर को साफ़-सुथरा रखती हो, और बच्चों की भी देखभाल करती हो; तो आपका बच्चा बहुत-से उन ख़तरों से सुरक्षित है, जिनकी चर्चा अभी कर चुका हूँ। मगर बच्चा फिर भी बच्चा है ! कभी आपके साफ़-सुथरे घर में कहीं कुछ गिरा देगा, धुली चाँदनी मैली हो जाएगी, माँ जो रोटी-पानी में लगी है उसे देख कर नाराज़ होगी और कहेगी, "अच्छा आने दे बाबूजी को अपने, कल ही तुझे मदरसे न भिजवाया तो।" कभी बच्चे से कोई चीज़ टूट जाएगी—वही मदरसे की धमकी ! कभी खेल-कूद में बच्चा चिल्लाएगा—शोर मचाएगा, अभी कपड़े बदले गए थे—अभी धूल में सना माँ के सामने आएगा, तो वही मदरसे भेजने की धमकी दी जाएगी। धमकी का प्रभाव बढ़ाने के लिए,

मदरसे की बड़ी भयानक तस्वीर भी सामने लाई जायेगी। और यों आज के दिन के लिए क्या ही खूब तैयारी की गई होगी, इसलिए कि आज आपका नन्हा मदरसे चला!

या हो सकता है, कि आप हिन्दुस्तान के उन करोड़ों किसानों और मजदूरों में से हों, जिनके बच्चों के लिये बस घर का कठिन जीवन ही मदरसे का काम देता है। जिनके लिए मदरसे खोलने को कभी काफ़ी पैसे नहीं मिल पाते और जिनके बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए इतने मदरसों की जरूरत है, कि हरेक शिक्षा-विशेषज्ञ उँगलियों पर हिसाब लगाकर बता देता है कि इतने मदरसे खोलने के लिए जितने धन की जरूरत है, उतना तो मिल ही नहीं सकता। वे यह बात बताकर समझते हैं कि बड़ी दूर की कौड़ी लाए। फिर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अगर कुछ मदरसे इनके लिए बन जाते हैं, तो ये अपने बच्चों को इन मदरसों में भेजने को तैयार नहीं होते। मैंने यह ग़लत कहा कि आप शायद उन करोड़ों किसानों या मजदूरों में से हों। उन बेचारों को इतना समय कहाँ कि बेफ़िक्रों की तरह रेडियो पर भाषण सुनें। कहीं-कहीं शिक्षा के अनिवार्य हो जाने के कारण, कहीं इसके निःशुल्क हो जाने के लालच से, कहीं आस-पास के सम्पन्न लोगों की देखा-देखी ऐसे किसान या मजदूर का नन्हा भी पढ़ने के लिए बैठा दिया जाता है। वह नन्हा जो घर के कामों में माँ-बाप का हाथ बँटाता है, जो बकरियाँ चरा लेता है, खेत पर बाप के लिए रोटी ले जाता है, माँ जब उपले थोपती या रोटी बनाती है तो यह छोटी बहन को बहला लेता है। हाथ-पाँव का बड़ा मजबूत है, बस आँखें दुखती हैं, या नाक बहती है। लेकिन आँख मिलाकर बात करता है, बे-सहारे जिन्दा रह सकता है, आदमी का बच्चा है, कोई मुरमुरों का थैला नहीं; और, हाँ न यह जीनियस है—न गधा! मगर इसका बाप भी चाहता है कि बच्चा पढ़कर पटवारी बन जाए। यह न हो सके, तो लाल-पगड़ी वाला चपरासी ही सही। अनिवार्य शिक्षा का क़ानून इसके जिले के कुछ गाँवों में लागू हो गया है, इसलिए यह भी आज मदरसे जाता है।

अब आप ही देखिए कि कैसे भाँति-भाँति के बच्चे मदरसे जाते हैं। घर ने कैसे-कैसे नमूने बनाए हैं, क्या-क्या आशाएँ लगी हैं, और उन्हें पूरा करने का क्या उपाय है? माँ-बाप की मानसिक उलझन को देखिए, उनके नतीजे यानी बच्चों की मानसिक गुत्थियों पर ध्यान दीजिए—तो मालूम होता है, कि मदरसे का काम भी कितना कठिन है। लेकिन क्या मदरसे वाले इसे सचमुच कठिन समझते हैं? क्या उनका ध्यान अपने काम की इस कठिनता की ओर जाता है? उनकी ये कठिनाइयाँ तो सुनने में आई हैं कि वेतन कम है, काम बहुत है, अफ़सरों को सलाम झुकाने में या उसकी तदबीर में फ़ुर्सत का और कभी-कभी काम का भी बहुत वक्त निकल जाता है। छुट्टियाँ कम हैं, अफ़सर लोग पक्षपात से काम लेते हैं, और कहीं-कहीं तो महीनों तनख्वाह भी नहीं मिलती। ये सब और इन जैसी बहुत-सी शिकायतें सुनने में आती हैं, और प्रायः ठीक भी होती हैं। लेकिन शिक्षा और विकास के काम की वास्तविक कठिनाई तो और ही है। यह कठिनाई वही है, जिसके कारण घर में विकास-सम्बन्धी अनेक भूलें हो जाती हैं। यानी बड़ों का यह अभिमान कि वे ही सब कुछ हैं, बच्चा कुछ नहीं; वे सब कुछ जानते हैं, मंज़िल जानते हैं, राह पहचानते हैं, सफ़र की गति-विधि निश्चय कर सकते हैं, काम उनकी इच्छा के अनुकूल हो, जिसकी अनेकरूपता के क्या कहने—तो सब ठीक! इसके खिलाफ़ हो, तो सब ग़लत! उन्हें घमंड है कि बच्चा उनकी सम्पत्ति है, वे चाहे मनोरंजन के लिए उसे अपना खिलौना बनाएँ, चाहे अपने मन-माने उद्देश्यों के लिए अपना दास! उन्हें अपनी बाज़ीगरी पर पूरा भरोसा है कि आम को इमली और इमली को आम बना सकते हैं! पहले बच्चा घर में लक्ष्य बनता है इस बात का कि वह सबकी सम्पत्ति है, और फिर माँ-बाप की सर्वज्ञता के दम्भ का। फिर कहीं मदरसे पहुँचता है। क्या मदरसा उसे इस मुसीबत से छुड़ा सकता है? क्या अध्यापक महोदय भी उस बीमारी के शिकार नहीं होते, जिसके कि स्वयं अभिभावक थे? क्या वे भी सब-कुछ नहीं जानते और सब-कुछ नहीं कर सकते? क्या वे भी यह नहीं समझते

कि बच्चा उनके कुशल करों में, बस, मिट्टी का एक लौंदा है? ये जो आकार चाहें उसे दें, और उसका मस्तिष्क जो एक कोरा काग़ज़ है, ये उस पर जो चाहें लिख दें! यारों ने तो शिक्षा के विद्या-विषयक विचारों की पूरी इमारत ही इसी ग़लत बुनियाद पर खड़ी कर ली है, और शिक्षा की व्यवस्था बस इस अहितकर प्रयत्न से की जाती है कि प्रकृति जो चाहती है वह न होने पाए, या जो हम चाहते हैं—प्रकृति को भी वही चाहना चाहिए। प्रकृति तो हर बच्चे में व्यक्तित्व-निर्माण के अनगिनत साधनों में से किसी एक विशेष साधन की सफलता चाहती है। किसी ने ठीक ही कहा है, कि हर बच्चा जो पैदा होता है, वह इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर अभी मानव से निराश नहीं हुआ है, और यहाँ पर यह धारणा बन चुकी है कि जो साँचा हमने तैयार किया है, बस वही सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्तित्व के मोम को पिघला कर बस उसी में ढालना चाहिए, और जो ठप्पा हमने बनाया है, वही सबसे अच्छा है, उसी की छाप इस पर लगानी चाहिए। इस समय जब कि मैं बच्चों के अभिभावकों और उनके अध्यापकों को लक्ष्य करता हूँ, यह निवेदन किए बिना नहीं रह सकता कि आप किसी तरह अपने को मौलिक भ्रान्तियों से मुक्त कर लें, बच्चे को मनुष्य का अग्रदूत (पेशरू) समझें, उसे बे-सहारे ख़ुद भी बढ़ने दें, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों का सम्मान करें, और समझें कि यह छोटा-सा जीव अपने विकास की क्रियात्मक पूर्ति की ओर ख़ुद क़दम उठाता है। इसे सहारा दीजिए, रास्ते से काँटे हटा दीजिए, मगर इसके चलने की दिशा तो न बदलिए! न इसकी ओर इतना अधिक ध्यान दीजिए कि यह फिर ख़ुद अपनी ओर ध्यान ही न दे सके, न इतनी उदासीनता ही रखिए कि इसकी वे आवश्यकताएँ भी पूरी न हों—जिनमें यह सचमुच आपके अधीन है। न लाड़-प्यार की ज़्यादती से इसे 'मिर्ज़ा फोया' बनाइये, न ऐसा ही कि आपकी कठोरता के कारण यह ज़िन्दगी या कम-से-कम आदमियों से ही घृणा करने लगे। मानसिक जीवन की अनेकरूपता को ध्यान में रखिए, और यह विश्वास न कर बैठिए कि ऊँचे पदाधिकारियों या बड़े-बड़े वकीलों के सब बच्चों को

ईश्वर ख़ास तौर से गढ़ कर 'सिवल सर्विस' के इम्तिहान में बैठने के लिए ही दुनियाँ में भेजता है। सारांश यह है, कि उन सम्भावनाओं के कारण, जो आपके बच्चे के मानसिक जीवन में अभी छिपी हुई हैं; उन मान्यताओं के लिए, जिनका वह भार उठा सकता है—आप उसका आदर और सम्मान करें। जी हाँ, आप घबराएँ नहीं! मैंने यही कहा कि आप बच्चे का आदर और सम्मान करें। बेबस बच्चे से लेकर एक स्वतन्त्र नैतिक व्यक्तित्व तक पहुँचने का प्रयत्न सचमुच बड़ा ही सराहनीय प्रयत्न है। आपने स्वयं चाहे उस राह पर क़दम उठाना छोड़ दिया हो, और थक कर कहीं बीच ही में बैठ रहे हों, कि बहुत से आदमियों को उस मंजिल तक पहुँचने का सौभाग्य नहीं मिल पाता, लेकिन आपका बच्चा अभी उस राह पर पहले-पहल क़दम उठा रहा है, उसका रास्ता तो न रोकिए, और इस भ्रम में भी कभी न पड़िए कि वह आपकी सम्पत्ति है, आप जो चाहें उसे बनाएँ। वह आपकी सम्पत्ति नहीं! वह तो आपके पास प्रकृति की एक धरोहर है! प्रकृति के अधिकार को अपने अधिकार से अधिक समझिए।

अध्यापकों से भी, जिनके मदरसे में ये बच्चे इसलिए भेजे जाते हैं कि समाज की दृष्टि में घर (Home) शिक्षा-विकास के कर्तव्य का पूर्णरूप से पालन नहीं कर सकता, मेरी यह प्रार्थना है, कि आप भी अपने इस शुभ-कार्य का मौलिक सिद्धान्त उसी आदर और सम्मान की भावना को बनाएँ। यह सिद्धान्त यदि आपके मस्तिष्क में बैठ गया, तो शिक्षा के काम में आपका सारा रवैया ही बदल जाएगा। आप अपने साथियों को भेड़ों का समूह न समझेंगे, बल्कि उसमें हर बच्चे की विशेष क्षमताओं और मुख्य आवश्यकताओं का ध्यान रखेंगे। मैंने आज की बातचीत में पारिवारिक परिस्थिति के कारण बच्चों में जो भेद उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी ओर संकेत किया है। आप अगर उन पर नज़र रखेंगे, तो जहाँ सहारे की ज़रूरत है, वहाँ धक्का लग जाएगा; जहाँ हिम्मत बढ़ाने से काम बन सकता है, वहाँ आप मनमुटाव का कारण बन जाएँगे; जहाँ आपकी एक मुस्कराहट से बच्चे के दिल की कली खिल सकती थी, वहाँ आपकी उपेक्षा से उसके मुरझाने का

डर पैदा हो जाएगा। अगर बच्चे का आदर और सम्मान करना आपकी दृष्टि में एक उचित सिद्धान्त होगा, तो आप अपने छात्रों की मानसिक उलझनों को समझने की कोशिश करेंगे, और हरेक के लिए उचित उपाय सोचेंगे। इन सामुदायिक भेदों के अतिरिक्त बच्चों की मानसिक आवश्यकताओं में जो विभिन्नताएँ होती हैं, उन पर भी आपकी दृष्टि रहेगी, तो आप कोशिश करेंगे कि जो प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक बच्चों में हो उसी को समुदाय में भी शिक्षा का साधन बनाएँ। उदाहरण के लिए सात से बारह-चौदह वर्ष तक के बच्चों में अगर आप देखें कि वे हाथ के काम की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो आप शायद इस बात पर ज़ोर न दें कि उनकी शिक्षा बस किताबों ही के द्वारा हुआ करे, कि बुज़ुर्गों की दृष्टि में किताबों का पढ़ना-पढ़ाना ही शिक्षा कहलाता है। छोटों के प्रति आदर-भाव तो स्नेह, आशीर्वाद और मृदुता का रूप धारण कर लेता है। यह सिद्धान्त, जो मैंने अभी बतलाया है, आप में बच्चे के लिए स्नेह और सहानुभूति उत्पन्न करेगा, आपको असफलताओं का सामना करने के लिए सहनशीलता और धैर्य की वह शक्ति प्रदान करेगा, जो स्नेह के अतिरिक्त अध्यापक की सबसे बड़ी पूँजी है। आप बच्चों के अच्छे अध्यापक यानी प्रकृति की धरोहर के सच्चे अमीन बन जाएँगे, और आपके परामर्श, और आपके आदर्श से बच्चों के पिता और अभिभावक भी अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति समझ सकेंगे; और अध्यापक और अभिभावक के सहयोग से शिक्षा और विकास का काम सचमुच सुचारु रूप से सम्पन्न किया जा सकेगा।

[यह भाषण ३१ मई, सन् १९४२ ई० को ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।]

अच्छा अध्यापक

मनुष्य का जीवन सदा किसी दूसरे जीवन से सम्बन्धित होता है। इसके मानसिक जीवन का प्रदीप किसी दूसरे मानसिक जीवन से प्रकाश पाता है। जीवन की लहलहाती बाड़ी में खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग बदलता है, और यों हर एक मनुष्य किसी दूसरे का अध्यापक–सिखलाने वाला—बताने वाला और बनाने वाला होता है। अध्यापक के अर्थ को इतना व्यापक बना दें, तो बात बहुत फैल जाएगी। हम तो यहाँ सिर्फ़ उन लोगों से बहस करना चाहते हैं, जो जान-बूझ कर सिखाने-पढ़ाने का काम अपना लेते हैं, और उसे अच्छी तरह पूरा करते हैं। ये लोग उस काम को अपनाते हैं इसलिए, कि इनकी सहज प्रवृत्ति उधर होती है। प्रवृति का यह मिलान एक प्राकृतिक बात है, जो स्वयं ही किसी ओर झुकी होती है। उसी तरह के काम को जी चाहता है, उसी के करने में मन को सन्तोष होता है। कुछ लोगों का स्वाभाविक झुकाव स्वयं अपनी ही ओर होता है। उनमें शक्ति की लालसा, कमाई का लपका, जमा कर-करके ढेरी लगाने की लत, लालच, हविस और अपनी बात को औरों से मनवाने की चाह होती है। कुछ तबियतों का झुकाव अपनी तरफ़ नहीं औरों की तरफ़ होता है। उनमें हम-दर्दी, संवेदना, मेल-मिलाप, उदारता, दूसरों को सहारा देने और मदद पहुँचाने की इच्छा क्रियात्मक होती है। किसी को हर चीज की खोज लगाने और हर बात की तह तक पहुँचने की धुन होती है। कोई दुनियाँ के बनाने वाले और पालनकर्त्ता परमात्मा के ध्यान में डूबा हुआ है, कोई अपने को उसकी परमसत्ता में लीन करने, दूरी को दूर करके तादात्म्य प्राप्त करने और

मुक्ति पाने की लगन लगाता है। कोई चीजें बनाता, बिगाड़ता और नई-नई ईजादों में अपने मन को तसल्ली देता है। आदमियों की इस भीड़ में अध्यापक को कहाँ ढूँढ़ें, और इन भाँति-भाँति के व्यक्तित्वों में अच्छे अध्यापक को कहाँ से पकड़ निकालें? इस सवाल के जवाब में इस बात से मदद मिलेगी कि हम यह देखें कि जिस काम को आदमी करना चाहता है, जिन मान्यताओं में उसका विश्वास है, जिन विशेषताओं का वह सेवक है, या बनना चाहता है, वे किस तरह पूरी हो सकती हैं? कुछ विशेषताएँ सिर्फ़ चीजों में आकर पूरी होती हैं। इनका साधक हमेशा चीजों के पीछे दिखाई देगा। उदाहरण के लिए, आदमी की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने की विशेषता चीजों ही में पूरी होती है। कुछ विशेषताएँ चीजों और आदमियों दोनों में अपना कमाल दिखाती हैं, जैसे सुन्दरता की विशेषता चीजों में भी झलकती है और इन्सानों में भी, आकृति (सूरत) में भी अपनी आभा दिखलाती है और शील (सीरत) में भी। कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं कि सिर्फ़ आदमियों में ही पूरी तरह निखर सकती हैं, जैसे नैतिक और धार्मिक विशेषताएँ। अब जो व्यक्ति ऐसी विशेषताओं का साधक बने, जो केवल मनुष्यों में ही चरम विकास को पहुँच सकती हैं, तो वह स्वयं ही या तो अपनी ओर ध्यान देगा या दूसरों की ओर ध्यान करेगा। उनमें से जिसका ध्यान अपने पर जम जाए, उसके लिए जरूरी नहीं कि वह दूसरों पर भी ध्यान दे। बहुत-से धार्मिक लोग अपनी सारी उम्र एक अपने ही जीवन को सँवारने-सुधारने में खपा देते हैं, एक अपनी ही मुक्ति की चिन्ता में लगे रहते हैं; और कुछ तो त्रिकुटी जमा कर अपनी नाक की चोंच को देखते-देखते सारी उम्र खत्म कर देते हैं। मगर जो किसी गुण या विशेषता को और आदमियों तक पहुँचाना चाहता है, उसे अपने सुधार पर भी कुछ-न-कुछ ध्यान रखना होता है। जो किसी को कुछ सिखाना चाहता है, उसे ख़ुद भी सीखना होता है। जो किसी को कुछ बनाना चाहता है, उसे ख़ुद भी कुछ बनना होता है। ऐसे आदमियों के मानसिक रूप में दो बातें—हमदर्दी और दूसरों से मेल-मिलाप की इच्छा, पहले दिन से ही विद्यमान-

होती हैं। ये लोग यों कहिए कि सामुदायिक और सामाजिक दृष्टिकोण के लोग होते हैं!

अध्यापक भी इसी तरह का व्यक्ति होता है। यह सच है, कि हर सामाजिक व्यक्ति अध्यापक नहीं होता, मगर हर अच्छा अध्यापक ज़रूर इसी साँचे में ढला होता है। सामाजिक व्यक्ति होना, दूसरे आदमियों की जिन्दगियों में उन विशेषताओं को उत्पन्न करने के लिए इच्छुक होना-- जिसका यह स्वयं साधक है, औरों को कुछ बनाने का चाव और इसके लिए खुद कुछ बनने या होने की ज़रूरत, यह अच्छे अध्यापक के मस्तिष्क की बनावट का ताना-बाना है। बाज़ार में इससे मिलता-जुलता नक़ली माल भी बहुत मिलता है, मगर उससे धोखा न खाना चाहिए। ऐसे अध्यापक भी होते हैं, जिनकी तबियत दूसरे आदमियों की तरफ़ बिलकुल नहीं झुकती। उन्हें किसी खास विशेषता से भी कोई दिली लगाव नहीं होता। उन्हें बस अपना पेट पालना होता है। दूसरों को अगर कुछ कला या हुनर सीखने की ज़रूरत होती है, ये दुकान लगा देते हैं—लोग दाम देते हैं, ये हुनर बेचते हैं। ग़ल्ला बेचकर न कमाया, कृषि-विद्या पर दो किताबें लिखकर ही कमा लिया। इसी अध्यापक की तरह और लोग भी होते हैं। प्रायः अध्यापकों के वेष में ऐसे कारीगर होते हैं, जिनकी सारी उम्र की कोशिश से कुछ ढोंगी, जो देखने में तो बहुत अच्छे धार्मिक और नैतिक (अखलाकी) विचारों के लोग हैं, पैदा होते हैं। मगर इनके नेक कामों की जड़ें उनके दिल तक नहीं पहुँचतीं। ये लोग झूठे माल पर बस अपने कारखाने का ठप्पा लगा देना काफ़ी समझते हैं, और असली धातु को बदलने की जगह मुलम्मा कर देने को तैयार रहते हैं। सच्चे अध्यापक के लिए तो ज़रूरी है, कि वह दूसरों से प्रेम करता हो, उसके दिल में आदमियों से आदमी होने के नाते प्यार हो। आप इन सच्चे विद्वानों, अच्छे अध्यापकों पर नज़र डालिए, तो इन में बहुत से गम्भीर धार्मिक लोग दिखलाई पड़ेंगे, रूप-सौन्दर्य के पारखी कलाकार भी इन्हीं में मिलेंगे। लेकिन ये विशेषताएँ इनकी मानसिक बनावट में बेल-बूटे हैं। ताना-बाना तो वही, पर इनमें सेवा

का चाव और मानव-मात्र के प्रति प्रेम विशेषतः होता है।

अध्यापक के जीवन-ग्रन्थ के मुख-पृष्ठ पर 'विद्या' नहीं लिखा होता, बल्कि 'प्रेम' शीर्षक होता है। उसे मानव-मात्र से प्रेम होता है, समाज से प्रेम होता है, समाज में जो विशेषताएँ विद्यमान हैं—उनसे प्रेम होता है; उन नन्हीं-नन्हीं जानों से मुहब्बत होती है, जो आगे चल कर उन विशेषताओं को अपनाने वाली हैं। इनमें जहाँ तक और जिन प्रणालियों से उन विशेषताओं की पूर्त्ति का साधन होता है, यह उसमें योग देता है। इसी काम में वह मानसिक सन्तोष और आत्मिक शान्ति उपलब्ध करता है।

अच्छे अध्यापक की सबसे पहली और सबसे बड़ी पहचान यही है, कि इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों और नवयुवकों के विकासोन्मुख व्यक्तित्वों की ओर होती है। उन्हीं में रह कर इसे सन्तोष मिलता है, उनके बिना दुनियाँ में यह परदेशी की तरह भटकता फिरता है। यह बस मदरसे के समुदाय ही में अध्यापक नहीं होता, बल्कि हर समय इसका मन अपने शिष्यों ही में अटका रहता है। अध्यापक के इस प्रेम का उल्लेख करना बड़ा कठिन है। संभवतः इसमें और बहुत-से सामान्य भाव सम्मिश्रित हों, संभव है कि आत्म-सम्मान की आकांक्षा भी इसके मन में जग उठी हो, संभव है कि बच्चों का मन हाथ में लेने, अपने प्रति उनका स्नेह और शील प्राप्त करने की इच्छा भी इसमें विद्यमान हो, यानी थोड़ी-सी स्वार्थपरता भी। हाँ, क्यों नहीं? ज़रूर यह भी होता होगा, और अगर मेल ज़्यादा हो जाए, तो वास्तविक शक्ति की विशेषताएँ शायद दब जाएँ। मगर ध्यान से देखिए, तो अच्छे अध्यापक के सारे काम में ऐसे मोल-तोल और हिसाब-किताब का अधिक महत्व नहीं होता। अच्छा अध्यापक अपने बहुत-से कामों को, बच्चों ही की तरह स्वाभाविक रूप से बिना अधिक सोचे-समझे ही कर डालता है। जो काम अपना उद्देश्य आप होते हैं, और अपने से बाहर कोई स्वार्थ नहीं रखते, उन्हें खेल कहते हैं। हाँ, तो अध्यापक का काम बहुत-कुछ तो खेल-ही-खेल में पूरा हो जाता है। इसका काम अक्सर अपना इनाम आप होता है। दुनियाँदारों, नाप-तोल करने वालों की दृष्टि में यह

मूर्खता हो, तो सचमुच अच्छा अध्यापक .इस मूर्खता में मगन रहता है। योरुप में एक प्रख्यात अध्यापक पैस्तालॉजी ने एक जगह अपनी और एक हिसाबी-किताबी दुनियाँदार की रोचक बातचीत का वर्णन किया है। पैस्तालॉजी ने कहा, "मैं तो अपनी जिन्दगी में हमेशा कुछ बच्चा-ही-सा रहा। शायद यही बात थी कि लोग हज़ारों रंगों से मुझसे खेलते रहे।" अक़लमन्द दुनियाँदार बोला, "अगर आपका हाल यह है, तो अच्छा हो कि आप किसी कोने में जाकर बैठ रहें, अपनी मूर्खताओं पर शरमाएँ और बस चुप रहें।" जवाब मिला, "जी हाँ! शायद आपका ख्याल ठीक हो।" दुनियाँदार भला कब चुप होने वाला था, बोला, "तो फिर ऐसा काम क्यों नहीं करते?" पैस्तालॉजी ने कहा, "जी हाँ, ऐसा भी कर चुका हूँ। लेकिन क्या करूँ, अब भी कुछ ऐसे आदमी पड़े हैं, जिनसे लोग उसी तरह खेलते हैं, जैसे मुझसे खेलते थे। कभी-कभी उनसे कुछ खेलने को जी चाहता है।" दुनियाँदार बुज़ुर्ग इस सादगी को सहन न कर सके और निःसंकोच होकर बोले, "यार, तुम तो अब तक बस नन्हें बच्चे ही हो।" तो पैस्तालॉजी क्या अच्छा जवाब देता है, जिसमें एक अनुभवी विद्वान् की आत्मा झलकती है, "जी हाँ, बच्चा-ही हूँ, और मरते दम तक बच्चा-ही रहना चाहता हूँ। तुम्हें क्या बताऊँ कि मन को इसमें कैसा सुख मिलता है, यानी आदमी थोड़ा-थोड़ा बच्चा हो, यक़ीन कर सके, भरोसा कर सके, प्रेम कर सके, ग़लती हो जाए, भूलचूक हो, मूर्खता हो, तो उनसे लौट आए; और आपके सारे अक़लमन्द लफ़ंगों से ज़्यादा भोला, ज़्यादा अच्छा और आखिर में चल कर ज़्यादा अक़लमन्द भी निकले। महाशय! इसके खिलाफ़ बहुत-कुछ देखा और बहुत-कुछ सुना, मगर फिर भी इसमें बड़ा मजा है, कि आदमी आदमियों के बारे में अच्छी-से-अच्छी भावना रखे, और चाहे रोज़ धोखा आए, लेकिन हर रोज नये सिरे से आदमियों की नेकदिली पर यक़ीन करे और अक़लमन्दों को और बेवकूफ़ों को—क्योंकि दोनों ग़लत रास्ते पर होते हैं—माफ़ करे।"

यह सिद्धान्त एक अच्छे अध्यापक ही का हो सकता है। बुद्धिमान् लोग

इसे मूर्खता समझें, तो अच्छा मूर्खता ही सही; और इसे बचपन बताएँ, तो यह सचमुच बचपन है; और जब तक अध्यापक में यह बचपन है, तब तक वह बच्चों के मन के भेद जानता है, और उनके जीवन में बराबर मिल-जुल कर उन्हें उन्नति की ओर ले जा सकता है। जिस अध्यापक में यह बचपन नहीं होता, वह बच्चों के मन की बोली नहीं समझता न उन्हें अपनी समझा सकता है। नादानी से जिधर क़दम उठाता है, तो कुछ-न-कुछ कुचल डालता है, कुछ-न-कुछ तोड़ डालता है। अध्यापक में बहुत अधिक चिंतनशीलता और गहरा पाण्डित्य उसके बचपने को कम कर देता है, वह पहले से अधिक विद्वान् या वह चीज़ बन जाता है, जिसे 'शिक्षा-विशेषज्ञ' कहते हैं, पर अध्यापक वह पहले से बुरा होता है!

हाँ, मैंने अध्यापक की जो यह पहली पहचान बताई, कि उसे बच्चों और नवयुवकों से स्वाभाविक लगाव और ममता हो, और वह बच्चों में बच्चा बन सके, तो यह है तो पहली और ज़रूरी चीज़, मगर सिर्फ़ यही काफ़ी नहीं। हर अच्छे अध्यापक में इसका होना ज़रूरी है, पर हर वह व्यक्ति, जिसमें यह विशेषता हो, अच्छा अध्यापक नहीं होता। उसमें स्नेह के इस सामंजस्य को एक विशेष रूप से कार्यान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यह क्षमता अभ्यास और परिश्रम से बढ़ सकती है, मगर होती है यह भी प्राकृतिक और ईश्वर-प्रदत्त! उसे उत्तम विद्याओं से भी सहायता मिलती है। शिक्षा और मनोविज्ञान के सिद्धान्त जान लेने से भी काम निकलता है। मगर सच बात तो यह है, कि अच्छे अध्यापक में बच्चों के व्यक्तित्व को समझने की प्राकृतिक क्षमता होनी चाहिए। जब कोई किसी बढ़ती हुई—बदलती हुई सजीव वस्तु पर प्रभाव डालना चाहे, जैसा कि अध्यापक चाहता है, तो पहले उस वस्तु को समझना बहुत ही आवश्यक है। अच्छे अध्यापक में वह विशेषता होनी चाहिए, जो एक अच्छे नाटककार, अच्छे उपन्यासकार या अच्छे इतिहासकार में होती है, कि वह एक छोटी-सी घटना से, एक छोटी-सी बात से, एक साधारण-सी क्रिया से, चेहरे के रंग से, आँखों से, यानी अभिव्यक्ति के साधारण ढंग से ही पूरे आदमी की वास्त-

विकता का पता लगा लेता है। मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त यहाँ आकर धोखा देते हैं और बाधक बन जाते हैं। कोई ऐसी प्राकृतिक और आन्तरिक शक्ति होती है, जो उन नन्हें-नन्हें झरोकों से झाँककर आत्मा के छिपे हुए तथ्यों को देख लेती और समझ लेती है। अच्छे अध्यापक की दूसरी पहचान यह है, कि उसमें यह आन्तरिक शक्ति हो और अनुभूति की सजग तीव्रता भी।

मगर समझ लेना और जान लेना भी तो काफ़ी नहीं। समझकर, जानकर ठीक प्रकार से प्रभावित करने की क्षमता भी तो होनी चाहिए। निदान के बिना इलाज नहीं होता, लेकिन किसी को खाली निदान आता हो और इलाज न आता हो, तो वह भी लाभ नहीं कर सकता। अध्यापक में बड़ी प्रत्युत्पन्नमति होनी चाहिए कि मामले को समझते ही प्रायः बिना सोच-विचार किए उचित उपाय उसकी समझ में आ जाए। किताबें पढ़कर बच्चों पर प्रभाव डालने वाले सोच-विचार ही करते रहते हैं, और किसी समस्या और उसकी युक्ति की अनगिनत किताबी कोशिशों के गोरख-धन्धे में भटकते ही रहते हैं। लेकिन एक अच्छा अध्यापक अपनी स्वाभाविक चतुरता से उचित उपाय ढूँढ़ लेता है। कभी हँसकर, कभी नाराज़ होकर, कभी तारीफ़ करके, कभी नरमी से, कभी लज्जित करके, कभी उकसा कर, कभी कुछ रोक कर, कभी अपनी तरफ़ खींच कर, कभी अपने से दूर करके, कभी बुराइयाँ बतलाकर, और कभी आँख बचाने से यह अपना काम कर लेता है। इन सब मौक़ों के लिए किताबों में निर्देश दिये होंगे, क्योंकि किताबों में अब सब-कुछ लिखा हुआ है। पर जिस वक़्त काम पड़ता है, तो 'लाल किताब' के देखने का मौक़ा नहीं मिलता, और अगर इसका कोई सामान्य निर्देश याद भी हो, तो इसको उस विशेष समस्या पर लागू करना भी तभी सम्भव होता है, जब कि अध्यापक में यह स्वाभाविक चतुरता (Tact) पहले से ही मौजूद हो।

सुधारकों और पैग़म्बरों की तरह अध्यापक को बने बनाए व्यक्तित्वों से वास्ता नहीं पड़ता, बल्कि उसका सम्बन्ध उनसे होता है, जो अभी बन रहे

हैं। सुधारक और पैग़म्बर तो बने बनाए व्यक्तित्वों से अपना काम ले-लेते हैं। इन्हें उन विश्वासों, परम्पराओं, इरादों और विचारों का सेवक बना देते हैं, जिनके प्रचार या संस्थापन के लिए ये आए हैं। जो इन्हें क़त्ल करने निकलते हैं, ये उनके जीवन की दिशा ही बदल कर उन्हें अपने विरोधियों के लिए काल बना देते हैं। जो पहले एक तरफ़ झुकता था, उसका सिर अब दूसरे के सामने झुका देते हैं। अध्यापक का सम्बन्ध होता है अविकसित व्यक्तित्वों से। उसे अपने शिष्य के बनने वाले व्यक्तित्व की प्रवृत्ति को समझना और उसके विकास के साधनों का अनुमान करना पड़ता है, और उसे चरम उन्नति पर पहुँचाने में योग देना होता है। न केवल मानसिक दृष्टि से ये साधन दिखाई देते हैं, क्योंकि आदमी के जीवन में न जाने कितना अविवेक का अंश मिला है; न केवल अन्तःप्रेरणा और सहज-बुद्धि पर ही अध्यापक भरोसा कर सकता है। यहाँ बस सहज-बुद्धि और अन्तःप्रेरणा को मिलाने की आवश्यकता होती है। अच्छा अध्यापक उन विभिन्न साँचों से परिचित होता है, जिनमें प्रायः आदमी का शील (सीरत) ढलता है, और उन आम जानकारियों के साथ बच्चे की विशेष स्थिति का अध्ययन उसे ठीक नतीजे पर पहुँचा सकता है। इसलिए उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त अच्छे अध्यापक में ठीक प्रकार से अध्ययन करने की विशेषता भी होनी चाहिए, अन्यथा वह अपने शिष्य के पूरे व्यक्तित्व की परख नहीं कर सकता, और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति में पूरा योग नहीं दे सकता। इस अध्ययन में प्रायः स्वयं अध्यापक का बना-बनाया व्यक्तित्व ही बाधक बन जाता है। आदमी बेजान चीज़ों की खोज तो स्वतन्त्र रूप से कर सकता है, पर वास्तव में उसके ही शरीर का अध्ययन (मुशाहिदा) निरपेक्ष रूप से करना कठिन है। तो मन और आत्मा का अध्ययन भला कैसे निरपेक्ष रूप से हो सकता है? इसके लिए तो हरदम खुद अपने से लड़ना और अपने को दबाना होता है। मेहनती और कुरुचिपूर्ण, सीधे और उद्दंड, शीलवान् और अशिष्ट, हँसमुख और रोनी सूरत—सबको एक-ही तरह उदासीनता के साथ देखना, कोई सरल काम नहीं। मगर अच्छे अध्यापक का काम भी

सरल नहीं होता और यह गौरव हर एक को तो प्राप्त भी नहीं हो सकता।

अध्यापक का असली काम शील (सीरत) का निर्माण करना है, और सारी शिक्षा का मूल उद्देश्य भी यही होता है, कि वह बच्चे की विचार-शक्ति और उसकी कार्यशक्ति को किसी सीधी राह पर डाल दे, और उचित सिद्धान्तों के अनुसार—अच्छी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके शील में एकाग्र दृढ़ता उत्पन्न कर दे। जो व्यक्ति अध्यापक बनकर शिक्षा का यह काम पूरा करे, उसे स्वयं भी तो मालूम होना चाहिए कि वह शील को किस राह पर डाले। स्वयं उसके शील का भी तो कोई खास रंग और स्वयं उसके जीवन का भी तो कोई खास ढङ्ग होना चाहिए। उसके प्रभाव से बच्चे में एकाग्रता (यकसूई) तो तब ही पैदा होगी, जब कि स्वयं उसमें भी एकाग्रता हो। जो खुद थाली के बैंगन की तरह इधर-उधर लुढ़कता हो, वह दूसरों को एक दिशा में कैसे चला सकेगा? शील की एकरूपता (यकसूई) के विभिन्न अंगों पर बहस करने का यह अवसर नहीं है। बस, इतना कहना काफ़ी है, कि ऊँचा शील उसी को प्राप्त होता है, जिसके निश्चय में कुछ दृढ़ता हो, जिसका परामर्श हितकर हो, जो उचित आदेश दे सके और जिसमें विवेक भी हो, जिसकी बात में कुछ मधुरता हो और जो दूसरे की स्थिति को इस मधुरता के कारण सहज ही में समझ सके। फिर जिसमें उन गुणों या विशेषताओं के लिए—जिन्हें वह विशेषताएँ समझता है—उत्साह और उमंग हो। इनमें से अन्य तीन विशेषताओं की चर्चा तो पहले किसी-न-किसी सिलसिले में हो चुकी है। ये उत्साह और उमंग की अन्तिम विशेषताएँ भी याद रहें, क्योंकि अध्यापक के लिए ये दोनों बहुत जरूरी हैं। अच्छे अध्यापक के भावुकता-प्रधान जीवन में उदारता भी होती है, गंभीरता और दृढ़ता भी। इसकी आत्मा में स्वत्व और सत्यता, रूप और सौन्दर्य, नेकी और पवित्रता, न्याय और स्वतन्त्रता के प्रदर्शन (मज़ाहिरे) से—एक गर्मी पैदा हो जाती है, जिससे वह दूसरे दिलों को गरमाता है, और जिसमें तपा-तपा कर अपने शिष्यों के शील को खरा बनाता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा है। वह यह कि अध्यापक अपने

शिष्यों के शील को अपने प्रभाव से जो रंग-रूप देता है, उसमें शायद किसी को हुकूमत करने, शक्ति आजमाने, और जबरदस्ती करने का आभास मिले। क्योंकि हुकूमत करने वाले भी दूसरों के इरादों को अपने अधीन बनाते हैं, और अध्यापक भी दूसरे के जीवन को अपने संकेतों पर चलाने का प्रयत्न करता है, और दूसरों से अपने इरादे पूरे कराता है? लेकिन यह धोखा है। बात यों नहीं है। अच्छे अध्यापक में तो सत्ताधारियों और शासकों की प्रकृति का लेशमात्र भी नहीं होता। उसमें और इनमें ज़मीन और आसमान का अन्तर है। शासक जब्र करते हैं, यह सब्र करता है; वे मजबूर करके एक-ही राह पर चलाते हैं, यह आज़ाद छोड़कर साथ लेता है; एक के साधन हैं शक्ति और ज़बरदस्ती, दूसरे के हैं मुहब्बत और खिदमत; एक का कहना डर से माना जाता है, दूसरे का शौक से; एक हुक्म देता है, दूसरा सलाह; वह गुलाम बनाता है, और यह साथी!

इन विशेषताओं के अतिरिक्त बहुत-से अन्य गुण भी एक अच्छे अध्यापक में मिलते हैं। अच्छा अध्यापक होने के लिये यह अच्छा प्रवक्ता भी होता है, और ऐसी ही बहुत-सी छोटी-छोटी और विशेषताएँ भी रखता है। मगर इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसके जीवन की जड़ें स्नेह की अजस्र धारा से अभिसंचित होती हैं। इसलिए यह वहाँ आशा लगाता है, जहाँ दूसरे जी छोड़ देते हैं; वहाँ तत्पर रहता है, जहाँ दूसरे थक जाते हैं; इसे वहाँ प्रकाश दिखाई देता है, जहाँ दूसरे अँधेरे की शिकायत करते हैं। यह जीवन के अपकर्ष को भी देखता है, लेकिन इसकी वजह से उसके उत्कर्ष को भूल नहीं जाता, और बड़े की महत्ता के साथ-साथ यह छोटे के महत्त्व की भी उपेक्षा नहीं करता। यह महापुरुषों का-सा महान् आदर्श सदा अपनी आँखों के सामने रखता है, मगर नादान और बेबस बच्चे की सेवा को भी अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझता है; और बच्चे की ओर से जब सारी दुनियाँ निराश हो जाती है, तो बस दो ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके मन में अन्त तक आशा बनी रहती है—एक उसकी माँ और दूसरा अच्छा अध्यापक!

[यह भाषण १५ मई, सन् १९३७ ई० को ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली, से प्रसारित किया गया।]

प्रारम्भिक और उससे पहले की शिक्षा

: १० :

भाइयो और बहनो!

सबसे पहले, आपको धन्यवाद देने से भी पहले, मैं आप से क्षमा चाहता हूँ कि सामान्य प्रथा के विपरीत आपकी सेवा में यह भाषण अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। अजीब-सी बात है, कि ऐसा करने पर क्षमा माँग रहा हूँ। चाहिए तो यह था, कि अगर किसी दूसरी भाषा में आप से निवेदन करता, तो आपत्ति की जाती। लेकिन हमारे अधिवेशनों की सामान्य प्रथा ने वर्तमान परिस्थिति को बिलकुल बदल दिया है। अँग्रेजी देश में शिक्षित लोगों की भाषा बन गई है। वे इसमें पढ़ते हैं, इसमें लिखते हैं, और कभी सोचते हों, तो शायद इसी में सोचते हैं। जब विद्वानों की किसी सभा में कुछ कहना होता है, तो अपने विचारों को अँग्रेजी शब्दों ही की पोशाक पहना कर पेश करते हैं। ऐसा क्यों हुआ और कैसे हुआ, इससे मुझे इस वक्त बहस नहीं। यह अच्छा हुआ या बुरा हुआ; इस पर भी कुछ कहना नहीं चाहता। बस, इतना जानता हूँ, कि अगर हमारे देश में शिक्षा किसी एक छोटे-से वर्ग तक सीमित रहने वाली नहीं है; अगर इस देश के निवासी जानवरों के झुण्ड के समान नहीं, बल्कि मनुष्यों के समुदायों की तरह जीवन बिताने पर तुले हैं, अगर यहाँ की सरकार किसी छोटे-से शक्तिशाली या चालाक समुदाय की सत्ता नहीं, बल्कि यहाँ के प्रजातन्त्र के अनुसार बनने वाली है, तो शिक्षा-सम्बन्धी

भाषा की वर्त्तमान स्थिति बदलेगी—और जल्द बदलेगी। कोई यह न समझे कि मैं अंग्रेजी भाषा की कद्र करना नहीं जानता। मैं जानता हूँ, कि हमने अँग्रेजी भाषा के द्वारा बहुत-कुछ सीखा है। यह भी जानता हूँ कि बहुत-कुछ इससे और सीखना है। इसने हमारे विचार-जगत् में एक चेतना उत्पन्न की है। इसने हमें पाश्चात्य विद्याओं, कलाओं, उद्योग-व्यवसाय, संस्कृति एवं विचारों का परिचय दिया है। इसने हमें राजनीति और अर्थशास्त्र की नई धाराओं से परिचित कराया है। इसके वास्तव में हम बड़े कृतज्ञ हैं, और इससे अभी और बहुत काम लेना है, क्योंकि हममें और पश्चिमी संस्कृति में यही एक सम्बन्ध शायद बहुत दिनों तक बना रहने वाला है। लेकिन जहाँ मैं यह सब जानता हूँ, वहाँ यह भी जानता हूँ कि हम अँग्रेजी जानने वालों ने जो एक नई जाति इस देश में बनाली है, उसने अनजाने में अपनी स्वार्थपरता से, हर जाति की तरह, अपने विशेष हितों को अपने तक सीमित रखने की भी कोशिश की है। उसने अपने ज्ञान को अपनी महत्ता का साधन बनाया है। जो सीखा—वह सिखाया नहीं। जो कुछ थोड़े-से विशेष व्यक्तियों को प्राप्त हुआ, वह जनसाधारण तक नहीं पहुँचाया गया। अपनी प्यास तो बुझा ली है, किन्तु सारे राष्ट्र को प्यासा रखा है। और क्योंकि ज्ञान और कला के कोष बचाने से घटते हैं और लुटाने से बढ़ते हैं, इसलिए उस वर्गीय स्वार्थपरता ने इसे भी कुछ कम हानि नहीं पहुँचाई। अपने यथार्थ राष्ट्रीय जीवन के प्रति उदासीनता ने उन्हें अपने देश में परदेशी बना दिया, स्वदेश में 'देश निकाला' कर दिया, उनके विचारों में नवीनता पैदा नहीं होने दी, उनके चरित्र को स्नेह और सहानुभूति से वंचित कर दिया, उनके मुँह को माँगे की बातें मिलीं, और उनके हृदय को माँगे की कामनाएँ। डाक्टर इकबाल ने सच कहा है:

"बर ज़बानश गुफ़्तगूहा मुस्तआर।
दर दिले ऊ आरज़ूहा मुस्तआर॥"

(उसके भावों की अभिव्यक्ति और उसकी इच्छाएँ अपनी नहीं हैं—दूसरों से उधार ली हुई हैं।)

खैर, यह तो हुआ सो हुआ, हमें जल्दी ही इसे बदलना चाहिए। विशेषतया शिक्षा-सम्बन्धी काम करने वालों को, इसमें तनिक भी देर न करनी चाहिए, कि वे अपनी राह से अपनी शिक्षा के विदेशी भाषा के माध्यम की मुसीबत को हटाएँ। और प्रारम्भिक और उससे पहले की शिक्षा की समस्याओं पर सोच-विचार करने के लिए, जो कॉन्फ्रेंस यहाँ बुलाई गई है, उसके कार्यकर्ताओं को तो यह जानना चाहिए कि उनका सारा काम, बच्चों में और बच्चों के माँ-बाप के साथ, मातृ-भाषा ही के द्वारा सम्भव है। इसलिए अपनी भाषा में यह भाषण देने पर क्षमा माँगना कुछ बहुत ज़रूरी तो नहीं है; लेकिन रस्मोरिवाज के नियम भी सख्त होते हैं। हमारी शिक्षा-सम्बन्धी सभाओं में मातृभाषा को मार्ग मिलना एक नई बात है। मैं आपसे आज्ञा लिए बिना इसे यहाँ ले आया हूँ, इसलिए क्षमा चाहता हूँ, यद्यपि यह आपत्ति करने में थोड़ा-सा उपालम्भ और थोड़ी-सी चेतावनी भी है!

आपने क्षमा कर दिया हो, और यक़ीन करता हूँ कि क्षमा कर ही देंगे, तो अब आगे चलूँ। सब से पहले आप को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, कि इस सभा के सभापतित्व के लिए आपने मुझे याद किया। मैं 'न्यू एज्युकेशन फ़ैलोशिप' के काम से बहुत दिनों से परिचित हूँ, और इसका हृदय से सम्मान करता हूँ। इस 'फ़ैलोशिप' ने संसार के विभिन्न देशों में शिक्षा-सम्बन्धी काम करने वालों को नई राहें सुझाई हैं, इसने बच्चों के व्यक्तित्व को साँचों और ठप्पों में दबने से बचाने की कोशिश की है, बच्चों की क्षमताओं और प्रवृत्तियों को उनकी शिक्षा का आधार बनाने पर बल दिया है, बच्चों के व्यक्तिगत मनोरंजन को मदरसे और घरों में प्रोत्साहन दिया है, आज़ादी में सच्चे अनुशासन की महत्ता पर विचार किया है, शिक्षा के अन्तर्गत खेल और सामूहिक कार्य का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है; और सब से मुख्य बात तो यह है, कि शिक्षा का काम करने वाले अध्यापकों में एक नई आशा का संचार किया है, और उनमें एक नया जोश भी पैदा किया है, और एक निर्जीव और निकम्मे व्यक्ति को गौरवपूर्ण सामाजिकता

से सम्मानित भी किया है। इस 'फ़ैलोशिप' की किसी कॉन्फ्रेंस के सभापति बनने का दायित्व सचमुच मेरी सामर्थ्य के बाहर है। लेकिन आप के प्रेमभाव ने मुझे यह भार सौंप दिया है। मैं हृदय से आप का आभारी हूँ। आप इस सभा में प्रारम्भिक शिक्षा और उससे पहले की शिक्षा—दोनों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने वाले हैं। मैंने प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या पर सोचने और काम करने में कुछ समय जरूर लगाया है। लेकिन उससे पहले की शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कर सका हूँ। इसलिए अपने निजी अनुभव के आधार पर, इस विषय में, कुछ भी निवेदन नहीं कर सकूँगा। हाँ, अनिवार्य-बुनियादी-शिक्षा का समर्थन करने के कारण मेरे कुछ मित्रों ने मुझ पर जो सन्देह किया है, कि मैं उससे पहले की शिक्षा-दीक्षा को शायद कुछ महत्त्व ही नहीं देता, और उसकी समस्या को विचारणीय नहीं समझता, वह अनुचित है। किसी व्यक्ति के क्रियात्मक जीवन में एक समय में प्रायः एक चीज का ही सिद्धान्त सार्थक सिद्ध होता है। लेकिन इसका तात्पर्य दूसरी सब चीजों की उपेक्षा करना नहीं। बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता पर, इसे निःशुल्क और अनिवार्य बनाने पर, पिछले कुछ वर्षों में, उचित रूप से जोर दिया जाता रहा है। इसका मतलब यह कभी नहीं होना चाहिए कि इस बुनियादी शिक्षा की मंजिल से पहले के शिक्षा-विकास का प्रश्न कोई विशेष महत्त्व का नहीं है। खेद है, कि हमारे देश में अब-तब इस प्रारम्भिक अवस्था में विकास की समस्या को विचारणीय नहीं समझा गया है, यद्यपि जीवन की कुछ बुनियादी आदतों के बनने-बिगड़ने में यह समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है। चाहे शारीरिक विकास को देखिए, कि उम्र के पहले ही साल में बच्चे का वजन जन्म के समय से कोई तिगुना हो जाता है। और फिर वह जीवन-भर कभी इस तीव्र अनुपात से नहीं बढ़ता। पहले अठारह महीनों में दिमाग़ का वजन जितना बढ़ जाता है, फिर कभी इतने समय में उतना नहीं बढ़ता। स्नायु-चक्र (nervous system) और ज्ञानेन्द्रियों (Sensory organs) की भी यही दशा है। शरीर की इस सवेग वृद्धि के कारण ही यह समय स्वास्थ्य के लिए खतरों से भरा हुआ है।

हमारे देश का तो कहना ही क्या ? यहाँ के वायुमण्डल में जो हज़ारों बच्चे पहला साँस लेते हैं, उनमें से पौने-दो-सौ के लगभग दूध पीने की अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाते। दूसरे देशों में भी, जहाँ ज़िन्दगी इतनी सस्ती नहीं है और बच्चे ज़िन्दगी के दस्तरख़्वान पर बिना बुलाए मेहमान की हैसियत नहीं रखते, वहाँ भी इन ख़तरों का नन्हीं-नन्हीं जानों को सामना करना पड़ता है। अमरीका में भी कुल मृत्यु-संख्या (अमवात) का एक-तिहाई छः साल से कम उम्र वालों के हिस्से में आता है। इंग्लैंड में अनुमान लगाया गया है कि ८० से ६० प्रतिशत बच्चे तन्दुरुस्त पैदा होते हैं। मगर जब पाँच साल की उम्र में मदरसे जाते हैं, और वहाँ उनकी डाक्टरी जाँच होती है, तो एक-तिहाई से ज़्यादा तरह-तरह के रोगों के शिकार हो जाते हैं : कहीं भोजन के कारण—चाहे कमी से चाहे उसकी अधिकता से; कहीं संक्रामक रोगों के फलस्वरूप; कहीं घर के हानिकारक, अस्वस्थ और विरोधी वातावरण के कारण; कहीं घर की मनोवैज्ञानिक उलझनों की खींचतान से। और जहाँ इन परिस्थितियों को बदला गया है, वहाँ यह दशा भी बदल जाती है। अनुभव यह बतलाता है, कि अच्छे विद्यालयों में जाकर बच्चों का स्वास्थ्य ठीक हो जाता है—बीमारियाँ भाग जाती हैं, दाँतों की हालत और हो जाती है, और बच्चों की अपेक्षा उनका क़द और वज़न तेज़ी से बढ़ता है। फिर यही नहीं कि यह समय बच्चे के शारीरिक विकास ही की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है, बल्कि उसके सीखने की गति भी शारीरिक विकास की गति से कुछ कम नहीं होती। इसी अवस्था में बच्चा विवेक को व्यवहार में लाना सीखता है, उसकी सहायता से अपने वातावरण को पहचानता है, अपने पुट्ठों पर क़ाबू पा लेता है, आंगिक और क्रियात्मक अनुभव में सामंजस्य स्थापित करता है, चलना सीखता है, बोलना सीखता है। ढाई-तीन साल की उम्र में वह अपनी मातृभाषा को काम चलाने-भर के लिए सीख लेता है, और वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान भी उसे होने लगता है। ज्ञान-विस्तार के मार्ग पर वह इसी अवस्था में अग्रसर होता है, और अनुभव के भाव-पक्ष की

ओर तो इसके विकास की गति इतनी तीव्र होती है कि जानने वाले कहते हैं कि इसी अवस्था में इसके शील का श्रीगणेश हो जाता है। जीवन की और कौन-सी अवस्था इतनी व्यापक और ऐसी मौलिक विशेषताओं से पूर्ण होगी? ¼

नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर हमारे राष्ट्रीय जीवन के सच्चे व्यवस्थापक और सुधारक अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल होना चाहते हैं, तो उन्हें इस उम्र के बच्चों के विकास के प्रश्न को अपनी योजनाओं में पहले से अधिक महत्त्व देना होगा। मैं नहीं जानता कि बुनियादी शिक्षा छः साल की उम्र से अनिवार्य की जायगी, जैसा कि 'सेण्ट्रल एडवायज़री बोर्ड' का निर्णय है; या सात साल की उम्र से, जैसा कि बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा के निर्णय का उद्देश्य है। अतः किसी भी तरह से सही दो से—या जो उम्र आपकी कॉन्फ्रेंस विचार-विमर्श के बाद निश्चय करे—छः या सात साल की उम्र तक बच्चों की देखभाल, डाक्टरी जाँच और उचित इलाज, उनके लिए खुली हवा में अपनी ही उम्र के बच्चों के साथ दिन का एक बड़ा हिस्सा बिताने का इन्तज़ाम, इस उम्र की माँगों और आवश्यकताओं को समझने वालों की स्नेहपूर्ण देख-रेख में स्वास्थ्य और सफ़ाई की, मेल-जोल की जिन्दगी की, अपने नन्हे-नन्हे पैरों पर खड़े हो सकने की, दूसरे नन्हे और निर्बल साथियों को सहारा देने की—निजी और सामाजिक आदतें पैदा करने की व्यवस्था अवश्य करनी होगी। मेरे विचार से इस उम्र के बच्चों को बालक-बाड़ियों और शिशु-विद्यालयों में भेजना अभी माँ-बाप के लिए अनिवार्य तो नहीं करना चाहिए, लेकिन बच्चों के एक बहुत बड़े समुदाय के लिए, विशेषतया जहाँ घर (Home) आर्थिक या ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों के कारण अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता, इन विद्यालयों का प्रबन्ध राज्य की ओर से अवश्य होना चाहिए। अगर निजी प्रबन्ध से अपने विद्यालय खोले जाएँ, तो उदारता के साथ उनकी सहायता करना राज्य का कर्त्तव्य होगा। इतनी छोटी उम्र के बच्चों को घर से अलग करना बहुत नई-सी बात है, और बहुत से घर शायद अपना उद्देश्य आप पूरा

करने में समर्थ भी हों। इसलिए अभी अगर इस उम्र के बच्चों में दस में से दो इन विद्यालयों में ले आए जाएँ, तो हिसाब से तो कम ही हैं, मगर क्रियात्मक दृष्टि से यह काफ़ी होगा। इनके लिए अलग विद्यालय खोलकर या बुनियादी मदरसों के साथ इन छोटे बच्चों के लिए अलग विशेष व्यवस्था करके, राज्य अपने कर्त्तव्य में सफल हो सकता है, यदि मदरसे के इस विभाग की देखभाल के लिए विशेष दीक्षा-प्राप्त अध्यापक, बल्कि अध्यापिकाएँ नियुक्त की जाएँ, और बच्चों को साफ़ खुली हवा में एक अच्छे बग़ीचे के अन्दर, घर से कहीं अच्छे वातावरण में, रखने का प्रबन्ध भी हो सके।

साधारणतः यह समझा जाता है, कि ये शिशु-विद्यालय या बालक-बाड़ियाँ इसलिए अपेक्षित हैं कि बहुत-से बच्चों को अच्छा घर नहीं मिलता। निर्धनता, निरक्षरता, बीमारी इत्यादि बाधाएँ बच्चों को प्रायः घर की स्वाभाविक विशेषताओं या देन से वंचित रखती हैं, इसलिए भी इन विद्यालयों (तरबियतगाहों) की आवश्यकता है। लेकिन सच यह है, कि अगर घर वह सब-कुछ हो जाए, जो उसे होना चाहिए, तो भी वह सब-कुछ प्राप्त नहीं कर सकता—जिसकी माँग नन्हे बच्चों की विकासमान और नित्य परिवर्तनशील प्रकृति करती है। इसलिए इन नए शिशु-विद्यालयों के बनाते समय यह बात सामने रखनी चाहिए कि ये घर के स्थानापन्न (Substitute) हैं, और घर की कमियों के पूरक भी। बच्चे के विकास में घर का वह महत्त्व है कि अगर विद्यालयों ने घर से अपना सम्बन्ध दृढ़ न किया, तो ये अपना उद्देश्य कभी भली-भाँति पूरा न कर पाएँगे।

एक ओर इनके ज्ञान से काम लेना होगा, दूसरी ओर माँ को बच्चे की सेवा की राहें समझनी और समझानीं होंगी। उसका कुछ बोझ अपने कन्धों पर लेना होगा, जिससे जो बोझ उसे उठाना है, उसे वह और अच्छी तरह उठा सके। इन विद्यालयों को डाक्टरी जाँच का प्रबन्ध करना होगा, और वह डाक्टरी सहायता भी पहुँचानी होगी, जिसकी बच्चे को ज़रूरत रहती है। इन्हें बच्चे में अच्छी-अच्छी आदतें डालनी होंगी और एक ऐसा वातावरण

बनाना होगा, जिसमें वह अपनी उम्र की माँगों के अनुसार वह सीख सके जो प्रकृति चाहती है कि वह सीख जाए; वहाँ तरह-तरह के रचनात्मक, कल्पनात्मक और भावनात्मक खेलों का प्रबन्ध भी करना होगा; और बच्चे को अपने शारीरिक विकास के लिए जिस क्रिया और चेष्टा की आवश्यकता है, उसके अवसर भी जुटाने होंगे; आसपास की चीजों की विशेषताओं को समझने का साधन बनाना होगा; उनके व्यवहार में जो कलात्मकता अपेक्षित है, उसकी नींव डालनी होगी; और बात-चीत करने, अपने साथियों और अपने बड़ों से अपनी कहने और उनकी समझने का अभ्यास भी कराना होगा। फिर दो-तीन साल की उम्र ही से बच्चे को साथियों की तलाश होती है। केवल माँ का लाड़-प्यार या साथ ही काफ़ी नहीं होता, वह अपने इधर-उधर और-बच्चे चाहता है—उनसे सहारा लेना और उन्हें सहारा देना चाहता है; और इस प्रकार सामाजिक जीवन की संस्कृति के निर्माण का मौलिक कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए बच्चे को दूसरे बच्चों की संगति और उनका स्नेह मिलना चाहिए, और यह चीज़ ये विद्यालय प्रायः घरों से ज़्यादा अच्छी तरह प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके साथियों का यह समुदाय कहीं बहुत बड़ा न हो जाए। जब साथी बहुत ज़्यादा हो जाएँ, तो वे भाई-बहिन नहीं रहते, भीड़ बन जाते हैं, जिसमें बच्चा खो-सा जाता है, और जिससे उसे कभी कोई गहरा लगाव पैदा नहीं हो पाता। वह उस भीड़ में या तो अन्दर को खिंच जाता है, शरमीला या झेंपू बन जाता है, या फिर लड़ता-झगड़ता है और हरेक पर धौंस जमाने की कोशिश करता है; या दब जाता है या दबाना चाहता है। संख्या बढ़ाने में नन्हें बच्चों के लिए छूत की बीमारियों का ख़तरा भी सख़्त ख़तरा है। इसलिए संख्या कम ही रखना ठीक है, और इसका ध्यान इसलिए और भी ज़रूरी है कि हम कहीं अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण; या काम को जल्दी-जल्दी फैलाने की दृष्टि से यह न कर बैठें कि इन शिशु-विद्यालयों में बहुत-बहुत से बच्चों को इकट्ठा कर दें। मेरे विचार से तो एक शिशु-विद्यालय में ३०—४० से ज़्यादा बच्चे नहीं होने चाहिएँ।

इन नए विद्यालयों को अगर सचमुच घर का प्रतिरूप (नौमुलबदल) और घर की कमियों का पूरक बनाना है, तो इनकी इमारत, इनके बग़ीचे, इनके खेल का इंतजाम, इनमें खाना तैयार करने और खाना खिलाने का ठीक प्रबन्ध, इनमें बच्चों के पालतू जानवरों की गुंजाइश, बच्चों के लिए सफ़ाई और उसके लिए अवसर, उनके लिए नीचे और हल्के साज़-सामान यानी बहुत-सी बातों को सामने रखकर ही हर चीज की जगह निकालनी होगी। हमारे देश में अभी स्कूलों की इमारतों में शिक्षोपयोगी बातों या सुविधाओं का ध्यान कुछ कम ही रखा जाता है। हर तरह की इमारत हर तरह के काम में लाई जा सकती है, लेकिन वास्तव में यह ठीक बात नहीं। क्या ही अच्छा हो कि देश के निपुण इंजीनियर और शिक्षा-विशेषज्ञ परस्पर विचार-विनिमय करके इन शिशु-विद्यालयों के लिए नमूने के नक्शे बनाएँ, जिन्हें स्थान-विशेष की दृष्टि से कुछ बदलकर हर जगह काम में लाया जा सके। ब्रिटेन के 'नर्सरी स्कूल ऐसोसियेशन' ने सन् १९४४ ई० के शिक्षा-विधान के पार्लियामेंट में स्वीकृत होने से पहले ही अपनी एक कमेटी बैठा दी थी, जिसने ब्रिटेन की परिस्थितियों को सामने रखकर एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की है, जिसमें इन नए विद्यालयों के लिए, जो इस विधान के अनुसार सारे देश में बनने वाले हैं, शिक्षा-भवनों और उनके साज-सामान से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों पर विशेषज्ञों के सुझावों का संक्षिप्त विवरण दिया है। क्या ही अच्छा हो, यदि हम भी अपने कार्यों में इस प्रकार की दूरदर्शिता का प्रमाण दे सकें ? क्यों न आप की 'फ़ैलोशिप' इस तरह के काम का दायित्व सँभाले ?

आपकी कॉन्फ़्रेंस के सामने दूसरा विवादपूर्ण प्रश्न प्रारम्भिक शिक्षा का है, जिसे आजकल देश की शिक्षा-सम्बन्धी शब्दावली के अनुसार 'बुनियादी शिक्षा' कहने लगे हैं। यह ५–६ साल से ऊपर के लड़के-लड़कियों की शिक्षा का प्रश्न है। इस उम्र के लड़के और लड़कियों में से कुछ की शिक्षा तो हमेशा जैसी-तैसी होती ही रही है। लेकिन जब तक शिक्षा का यह काम निजी काम होता है, बच्चों के अभिभावक अपनी इच्छा और

बच्चे से सम्बन्धित अपनी आकांक्षाओं के अनुसार जिस तरह की और जितनी शिक्षा की व्यवस्था चाहते हैं, करते हैं; या अध्यापक अपनी इच्छा से अपने शिष्य को जो चाहता है, बनाता है। इसलिए शिक्षा के उद्देश्यों और उसकी कार्य-प्रणालियों के विषय में बड़ा मतभेद रहता है। जितने मुँह उतनी बातें, जितने राही उतनी राहें। लेकिन जब शिक्षा समाज का मुख्य उद्देश्य (वज़ीफ़ा) बन जाती है, तो समाज स्वाभाविक रूप से हमेशा यह चाहता है कि शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी को वह अपना एक उपयोगी अंग बनाए। उसे उपयोगी बनाने में समाज की ओर से बड़े अत्याचार हो सकते हैं, और बराबर होते रहे हैं। उपयोगी बनाने के उद्देश्य से मानवता के अधिकार छीन लिए जाते हैं, साँचों में कसकर हर व्यक्तिगत विशेषता का झोल मिटा दिया जाता है, और एक-से तरशे-तरशाए, ढले-ढलाए नागरिक बनाने की कामना को बे-रोकटोक पूरा किया जाता है। पर अगर समाज की व्यवस्था जनतन्त्रवादी हो, क्योंकि जनतन्त्र मानव का मानव के रूप में सम्मान करता है, तो यह उसके व्यक्तित्व का सम्मान करने पर भी बाध्य होता है। मगर उपयोगी मनुष्य तो इसे भी चाहिए, बल्कि इसका तो अस्तित्व ही अपने नागरिकों की उचित शिक्षा पर निर्भर होता है। दूसरे अगर अपने लिए उपयोगी (कारामद) और आज्ञाकारी प्रजा बनाने की चिन्ता में रहते हैं, तो इसे अपने सच्चे शासकों के विकास का काम पूरा करना होता है। अतएव जहाँ भी जनतन्त्रवादी राजनीतिक संस्थाएँ उन्नति करती हैं, शिक्षा को आम करना होता है। इसका निःशुल्क प्रबन्ध करना होता है। और क्योंकि प्रश्न समाज के अच्छे या बुरे समाज बनने का नहीं होता है, बल्कि इसकी मौत और जिन्दगी का होता है, इसलिए शिक्षा को भाग्य और संयोग पर निर्भर नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे निःशुल्क भी करना होता है। हमारे देश में भी ज्यों-ज्यों राजनीतिक प्रवाह जनतन्त्र-वाद की ओर बढ़ा है, शिक्षा का प्रश्न भी सामाजिक जीवन का सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रश्न बनता गया है। और इस समय जब कि हम स्वाधीन जनतन्त्र-शासन के बहुत समीप हैं, चाहे एक अखण्ड हिन्दुस्तान में—चाहे अलग-

अलग पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में—इस बात पर शायद सभी सहमत होंगे कि हमें उतने समय के लिए, जितना सामाजिक उद्देश्य की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत हो, अपने सारे लड़के-लड़कियों के लिए आम और निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना ही है। मैं समझता हूँ, कि इस पर भी सब सहमत होंगे, कि यह समय अगर ४-५ ही साल का हुआ, तो काम न चलेगा और स्वावलम्बी और स्वतन्त्र जनतन्त्र का भार उठाने वाले नागरिकों की तैयारी के लिए अभी कम-से-कम ७-८ साल की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा, और आगे चलकर इस अवधि को शायद और बढ़ाना पड़े।

लेकिन ये चीज़ें, जिन पर मैंने कहा है कि सब का एक-मत है, बस एक ऊपरी ढाँचा है। सचमुच प्रश्न तो यह है, कि यह शिक्षा हो कैसी? इसके जवाब का सोचना और इसे उचित रूप से अधिक-से-अधिक पूरा करने का निरन्तर प्रयत्न जनतन्त्रात्मक समाज में यों तो सब का काम है, मगर विशेष रूप से इसके शिक्षा-सम्बन्धी काम करने वालों का ही यह कर्त्तव्य है। हमें इस कॉन्फ्रेंस में भी इस पर अवश्य विचार करना चाहिए। इस सवाल का जवाब खोजने में हम या तो समाज की माँगों को प्रधानता दे सकते हैं, या व्यक्ति को शिक्षित बनाने के साधनों को ही। समाज की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध हो। इसका उद्देश्य समाज की दृढ़ता और उनकी उन्नति हो तो आसानी से यह हो सकता है, कि हम समाज की माँगों और ज़रूरतों ही को सामने रख कर इस सवाल का जवाब दे दें। लेकिन याद रहे, इसमें बड़े ख़तरे हैं! जनतन्त्रवादी समाज भी अदूरदर्शिता के दोष से बिलकुल दूर नहीं होता। व्यक्तित्व के सम्मान की माँग होने पर भी सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ, व्यावहारिक दृष्टि से, इस व्यक्तित्व का निषेध करा सकती हैं, और जनतन्त्र में शिक्षा की व्यवस्था भी एकतन्त्र-शासन की तरह मनुष्यता को मिटाकर अपने नागरिकों में मशीनों की-सी क्रियाशीलता पैदा करने के लिए प्रयत्न कर सकती है, सामयिक और थोड़े काम के लिए स्थायी उद्देश्यों की उपेक्षा कर सकती है, और वर्त्तमान पर भविष्य का, और इस लोक पर

परलोक का बलिदान भी कर सकती है। इसलिए सही रास्ता यह मालूम होता है, कि हम व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी शिक्षा के महत्त्व पर ध्यान दें, और समाज के दृष्टिकोण से भी; और तब देखें कि अगर दोनों में कोई अन्तर है, तो वह कैसे दूर हो। अगर न हो तो उसी स्थिति को अपना लिया जाए। शिक्षा के व्यावहारिक क्षेत्र में, व्यक्ति और समाज के बीच, पहले दिन से ही, चोली-दामन का साथ रहा है। आप शिक्षा का काम करने वाले हैं! आप से तो यह छिपा न होगा, कि शिक्षा यानी सच्चा मानसिक विकास कैसे होता है। मस्तिष्क भी अपने विकास (नमू) के लिए शरीर की भाँति ही भोजन या पोषण चाहता है। यह पोषण इसे कहाँ से मिलता है? यह मिलता है समाज की संस्कृति से, इसकी भौतिक और अभौतिक संपत्ति से, इसके ज्ञान-कोष से, इसकी भाषा से, इसके साहित्य से, इसके उद्योग (industry) और दस्तकारी से, इसके चारित्रिक गठन से, इसकी रीति-परम्परा से, इसके सामाजिक जीवन के आदर्शों से, इसके गाँवों-क़स्बों और नगरों की व्यवस्थाओं से, इसकी संगीत-विद्या से, इसकी चित्रकला से, इसकी निर्माण-कलाओं (तामीरात) से, इसकी दुकानों से, इसके कारख़ानों से, इसकी शासन-पद्धतियों से, इसके महान् व्यक्तियों के आदर्श जीवन-चरितों से, अर्थात् इसकी विविध रचनात्मक क्रियाओं से!

सामाजिक संस्कृति की सारी भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ, जो विकासमान मस्तिष्क का पोषण करती हैं, स्वयं भी किसी-न-किसी मानवीय मस्तिष्क की उपज होती हैं; किसी-न-किसी मानवीय मस्तिष्क ही ने इनमें यह रूप निर्माण किया है; किसी मानवीय मस्तिष्क ही ने इनमें अपनी शक्ति को सन्निहित कर दिया है। इनमें मानवीय मस्तिष्क के प्रयत्न और कामनाएँ और उसकी अन्तर्दृष्टि ही तो निहित है। ये सब किसी मानसिक सम्पत्ति के स्वामी का गुप्त कोष हैं, या किसी मतवाले मन का मधुर सपना! यानी सब मानवीय मस्तिष्क के ही ऋणी हैं, और इसलिए सब की अपनी अलग-अलग मानसिक बनावट है।

जब कोई विकासोत्सुक मस्तिष्क इन वस्तुओं के निकट सम्पर्क में आता

है, तो इनकी छिपी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं, इनमें सोई हुई शक्तियाँ उस नए मस्तिष्क में जाकर जग जाती हैं, उसके लिए गुप्त निधियाँ अपने द्वार खोल देती हैं, और उस प्रशान्त वातावरण में उसके लिए फिर एक गूँज उठने लगती है। हाँ, यह अवश्य है कि हर सुव्यवस्थित और सन्तुलन-प्रिय मस्तिष्क के लिए हर सांस्कृतिक वस्तु अपनी छिपी शक्तियाँ भेंट नहीं करती। शारीरिक पोषण की भाँति मानसिक पोषण भी सब को समान रूप से अनुकूल नहीं पड़ता। किसी को कोई भाता है, किसी को कोई। और रहस्य इसका यह है, कि हर मस्तिष्क को वही चीज़ भाती है, जिस चीज़ की मानसिक बनावट उसकी अपनी मानसिक बनावट के अनुरूप हो। यही शिक्षा का मूल-मन्त्र है! इसको भूलना या इसके विपरीत चलना ऐसा ही है, जैसे अन्धे का रंग से और बहरे का चंग से विकास करने का ढंग! जिस मस्तिष्क की रचना साहित्यिक प्रयासों का परिणाम हो, उसे संस्कृति के औद्योगिक पदार्थों से, और जिस मस्तिष्क की रचना (साख़्त) का ज्ञान और दृश्यमान वस्तुओं से सम्बन्ध हो, उसे क्रियात्मक चीज़ों से शिक्षा देना या उसके विपरीत चलना—शिक्षा के मूलतत्त्व से अनभिज्ञ होने का प्रमाण है, और इस प्रकार उचित मानसिक विकास की राहों को रोक कर मनुष्यों को तोतों और सरकस के जानवरों के समान बना देना है।

अच्छा, तो इस सिद्धान्त के अनुसार ६-७ साल की उम्र के लड़के-लड़कियों के लिए क्या अपेक्षित है? अगर हर लड़के-लड़की का मानसिक विकास अलग-अलग सांस्कृतिक वस्तुओं से ही सम्भव हो सकता, तब तो फिर किसी सामान्य व्यवस्था के निर्माण करने की कठिनाइयाँ असम्भवता की सीमा तक पहुँच जातीं। सामान्य शिक्षा की योजना (निज़ाम) बनाने वालों का यह सौभाग्य है, कि इस उम्र में मानसिक विभिन्नताएँ (तफ़रीक़) उत्पन्न होने से पहले, रचनात्मक प्रवृत्ति बच्चों में बहुत आम, बल्कि यों कहिए कि सब से अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है। इस उम्र में बच्चे चाहते हैं कि कुछ बनाएँ-बिगाड़ें, तोड़े-जोड़ें। इनके हाथ काम के लिए बेचैन रहते हैं। इन के मानसिक विकास के लिए इस उम्र में प्रकृति की इच्छा यही मालूम होती

है कि ये हाथों की मदद से सोचें, चीजों को बरत कर पहचानें और काम करके सीखें। यह बड़ी ही भूल है, कि हम इस उम्र के बच्चों के लिए मानसिक विकास के इस साधन को, यानी रचनात्मक कार्य को, इनकी शिक्षा में स्थान नहीं देते, और प्रकृति के संकेतों की अवहेलना कर अपनी मनमानी युक्तियों के द्वारा उच्चतम विकास की अपेक्षा केवल मुलम्माकारी पर जोर दिया करते हैं। मैं तो समझता हूँ, इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि इस अवस्था (मंजिल) में रचनात्मक कार्य को शिक्षा-सम्बन्धी योजना का केन्द्र-बिन्दु बनाया जाए!

शिक्षा पाने वाले और शिक्षा के माध्यम, दोनों के बीच एक सामंजस्य होने के अतिरिक्त, इस अवस्था (मंजिल) में हाथ का काम स्वयं मानसिक क्रिया का; मानसिक प्रयास और मानसिक प्रयास के द्वारा मानसिक विकास (नमू) का, एक परम हितकर साधन है। इसके द्वारा जो कलात्मकता और जो ज्ञान पैदा होता है, वह मस्तिष्क को प्रकाशित कर देता है; और जो केवल किताबों से मिले, वह प्रायः इस उद्देश्य के लिए बिलकुल व्यर्थ है। हम शिक्षा के काम करने वालों को यह कभी न भूलना चाहिए, कि हरेक प्रकार की कलात्मकता और ज्ञान मानसिक विकास के फलस्वरूप नहीं होता। न इसका यह लक्षण है, न इसकी यह माप! ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, और कलात्मकता भी दो प्रकार की। एक ज्ञान वह होता है, जिसके लिए दूसरे काम करते हैं—हमें बैठे-बिठाए मिल जाता है, सूचना या समाचार के रूप में। एक ज्ञान वह होता है, जो व्यक्तिगत प्रयत्न और निजी अनुभव के द्वारा प्राप्त होता है, और जो मस्तिष्क का एक अंश बन जाता है, मस्तिष्क को प्रकाशित करता है—इसे पर्यवेक्षण-शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार एक कलात्मकता मशीन की कलात्मकता होती है। इसमें सूझ-बूझ की जरूरत नहीं, बस अथक परिश्रम चाहिए। कुछ पहले से निश्चित है, उसी को यह दोहराती है। पहले से कुछ दूसरे ने निश्चित कर दिया है, उसी को यह उत्पन्न करती है। दूसरी कलात्मकता मशीन की नहीं होती। वह तो व्यक्तिगत क्षमताओं के आधार पर नई मान्यताएँ

निर्माण करने से प्राप्त होती है। उसे रचनाशील कलात्मकता कहा जा सकता है। परम्परागत और सूचना-सम्बन्धी ज्ञान शक्तिहीन होता है, अस्पष्ट और धूमिल होता है। इससे न तो मस्तिष्क को प्रकाश मिलता है, न आत्मिक विकास ही होता है। प्रायः वह वासनाओं के दाग़-धब्बों को छिपाने के लिए एक चमकीला पर्दा होता है, या एक खाली ढोल पर चढ़ा हुआ चमड़ा, जो आवाज़ तो बहुत देता है, पर अन्दर से होता है खोखला। अनुभव द्वारा अर्जित ज्ञान शील की सृष्टि करता है और आत्म-सम्मान की भी। यह मस्तिष्क को विकसित करता है, आत्मा को बल देता है, और प्रगति करने के लिए शक्ति प्रदान करता है। यही बात मशीन की कलात्मकता की तुलना में रचनाशील कलात्मकता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसलिए सच्ची शिक्षा यानी सच्चे मानसिक विकास के लिए और अनुभवगम्य ज्ञान और रचनाशील कलात्मकता दोनों के निमित्त अपने बुनियादी मदरसों में हाथ के काम को महत्त्व देना और उससे उचित शिक्षा का काम लेना—ज़रूरी है।

इस धारणा से कुछ लोग तुरन्त यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं, कि फिर सूचनात्मक (खबरी) ज्ञान और मशीन की कलात्मकता के लिए मदरसे में कोई जगह ही न होनी चाहिए। मैं समझता हूँ, कि ये लोग कुछ जल्दी करते हैं, और वस्तुतः सिद्धान्तों को जीवन का सेवक नहीं बनाते, बल्कि जीवन को व्यर्थ ही सिद्धान्तों का दास बनाना चाहते हैं, एक सही बात को अत्युक्ति के साथ सामने रखकर उसे निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। सच यह है, कि न हर रचनात्मक कार्य अनिवार्य शिक्षा का कार्य होता है, न हरेक मशीन के काम का विद्यालय से बहिष्कार ही ज़रूरी है, न हरेक अनुभवगम्य ज्ञान को शिक्षा का रूप दिया जा सकता है, न सब किताबों को ही दियासलाई दिखाना ज़रूरी है। कुछ विवेक से काम लीजिए, तो मालूम होगा, कि शिक्षा की दृष्टि से तो ठोस काम वह होता है, जिसमें सब-से-पहले दो काम करने वाले व्यक्ति को समस्याओं का पर्याप्त अनुभव और ज्ञान हो। वह अपने काम की एक मानसिक रूपरेखा (ज़हनी खाका) बनाए,

उसके साधनों की खोज करे, और सम्भावित उपायों में से किसी एक को अपने लक्ष्य के अनुसार चुन ले, फिर उस काम को कर डाले। करने के बाद अपने पूर्व उद्देश्य और रूपरेखा को सामने रखकर उसे जाँचे, उसकी विशिष्टता पर कुछ सन्तोष करे और उसकी त्रुटियों और दोषों से सावधान हो जाए, और साथ ही भविष्य में उसे एक श्रेष्ठतर प्रणाली के द्वारा पूरा करने के लिए उद्यत हो। शिक्षा के काम में ये अवस्थाएँ जरूरी हैं। ये ही तो इस काम को विकास की शक्ति प्रदान करती हैं। सूचनात्मक (खबरी) ज्ञान और मशीन के कामों में ये अवस्थाएँ नहीं होतीं; इसलिए वे उचित शिक्षा-विकास का साधन नहीं बन सकते। लेकिन फिर भी शिक्षा के काम में इन का महत्त्व है, और कुछ कारणों से तो एक विशेष महत्त्व है। होता यह है, कि वास्तविक शिक्षा-कार्य के सम्बन्ध में काम करने वालों के लिए बहुत-सा ऐसा ज्ञान भी अपेक्षित है, जिसे अगर वे निजी अनुभव के द्वारा ही प्राप्त करना चाहें, तो उनका सारा जीवन बीत जाए। शिक्षा के अनेक रचनात्मक कार्यों में ऐसे कला-कौशल की भी आवश्यकता पड़ती है, कि अगर उसे पहले से प्राप्त करके मशीन के रूप में कार्यान्वित न किया जा सके, तो यह उद्देश्य अधूरा ही रह जाए। ऐसी दशा में मशीन के काम की निपुणता और सूचनात्मक ज्ञान अनुभव और रचनात्मकता के उद्देश्यों की पूर्ति में योग देते हैं, और उनके जीवन प्रद सम्पर्क में उनकी निर्जीवता भी जीवन का साधन बन कर उन्हें अनुप्राणित करती है।

शिक्षा के काम की जो विशेष अवस्थाएँ मैंने ऊपर बतलाई हैं, वे केवल मानसिक कार्य में भी संभव हो सकती हैं, नैतिक मान्यताओं में भी, साहित्यिक साधनाओं में भी, और हाथ के रचनात्मक काम में भी। विस्तार से बतलाने के लिए समय नहीं, लेकिन तनिक ध्यान देने से मालूम हो जाएगा, कि हाथ के काम में भी ये अवस्थाएँ बड़े व्यापक रूप में काम करने वाले के सामने आ सकती हैं। इसलिए अगर हम अनुभवगम्य ज्ञान और रचनाशील कलात्मकता को वास्तविक मानें, तो अपने उन बुनियादी मदरसों में हाथ के काम से यह विकास-सम्बन्धी सेवा का साधन जुटाना और भी जरूरी है।

निर्माण करने से प्राप्त होती है। उसे रचनाशील कलात्मकता कहा जा सकता है। परम्परागत और सूचना-सम्बन्धी ज्ञान शक्तिहीन होता है, अस्पष्ट और धूमिल होता है। इससे न तो मस्तिष्क को प्रकाश मिलता है, न आत्मिक विकास ही होता है। प्रायः वह वासनाओं के दाग़-धब्बों को छिपाने के लिए एक चमकीला पर्दा होता है, या एक खाली ढोल पर चढ़ा हुआ चमड़ा, जो आवाज़ तो बहुत देता है, पर अन्दर से होता है खोखला। अनुभव द्वारा अर्जित ज्ञान शील की सृष्टि करता है और आत्म-सम्मान की भी। यह मस्तिष्क को विकसित करता है, आत्मा को बल देता है, और प्रगति करने के लिए शक्ति प्रदान करता है। यही बात मशीन की कलात्मकता की तुलना में रचनाशील कलात्मकता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसलिए सच्ची शिक्षा यानी सच्चे मानसिक विकास के लिए और अनुभवगम्य ज्ञान और रचनाशील कलात्मकता दोनों के निमित्त अपने बुनियादी मदरसों में हाथ के काम को महत्त्व देना और उससे उचित शिक्षा का काम लेना— ज़रूरी है।

इस धारणा से कुछ लोग तुरन्त यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं, कि फिर सूचनात्मक (खबरी) ज्ञान और मशीन की कलात्मकता के लिए मदरसे में कोई जगह ही न होनी चाहिए। मैं समझता हूँ, कि ये लोग कुछ जल्दी करते हैं, और वस्तुतः सिद्धान्तों को जीवन का सेवक नहीं बनाते, बल्कि जीवन को व्यर्थ ही सिद्धान्तों का दास बनाना चाहते हैं, एक सही बात को अत्युक्ति के साथ सामने रखकर उसे निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। सच यह है, कि न हर रचनात्मक कार्य अनिवार्य शिक्षा का कार्य होता है, न हरेक मशीन के काम का विद्यालय से बहिष्कार ही ज़रूरी है, न हरेक अनुभवगम्य ज्ञान को शिक्षा का रूप दिया जा सकता है, न सब किताबों को ही दियासलाई दिखाना ज़रूरी है। कुछ विवेक से काम लीजिए, तो मालूम होगा, कि शिक्षा की दृष्टि से तो ठोस काम वह होता है, जिसमें सब-से-पहले तो काम करने वाले व्यक्ति को समस्याओं का पर्याप्त अनुभव और ज्ञान हो (वह अपने काम की एक मानसिक रूपरेखा (ज़हनी खाका) बनाए,

उसके साधनों की खोज करे, और सम्भावित उपायों में से किसी एक को अपने लक्ष्य के अनुसार चुन ले, फिर उस काम को कर डाले। करने के बाद अपने पूर्व उद्देश्य और रूपरेखा को सामने रखकर उसे जाँचे, उसकी विशिष्टता पर कुछ सन्तोष करे और उसकी त्रुटियों और दोषों से सावधान हो जाए, और साथ ही भविष्य में उसे एक श्रेष्ठतर प्रणाली के द्वारा पूरा करने के लिए उद्यत हो। शिक्षा के काम में ये अवस्थाएँ ज़रूरी हैं। ये ही तो इस काम को विकास की शक्ति प्रदान करती हैं। सूचनात्मक (खबरी) ज्ञान और मशीन के कामों में ये अवस्थाएँ नहीं होतीं; इसलिए वे उचित शिक्षा-विकास का साधन नहीं बन सकते। लेकिन फिर भी शिक्षा के काम में इन का महत्त्व है, और कुछ कारणों से तो एक विशेष महत्त्व है। होता यह है, कि वास्तविक शिक्षा-कार्य के सम्बन्ध में काम करने वालों के लिए बहुत-सा ऐसा ज्ञान भी अपेक्षित है, जिसे अगर वे निजी अनुभव के द्वारा ही प्राप्त करना चाहें, तो उनका सारा जीवन बीत जाए। शिक्षा के अनेक रचनात्मक कार्यों में ऐसे कला-कौशल की भी आवश्यकता पड़ती है, कि अगर उसे पहले से प्राप्त करके मशीन के रूप में कार्यान्वित न किया जा सके, तो यह उद्देश्य अधूरा ही रह जाए। ऐसी दशा में मशीन के काम की निपुणता और सूचनात्मक ज्ञान अनुभव और रचनात्मकता के उद्देश्यों की पूर्ति में योग देते हैं, और उनके जीवन प्रद सम्पर्क में उनकी निर्जीवता भी जीवन का साधन बन कर उन्हें अनुप्राणित करती है।

शिक्षा के काम की जो विशेष अवस्थाएँ मैंने ऊपर बतलाई हैं, वे केवल मानसिक कार्य में भी संभव हो सकती हैं, नैतिक मान्यताओं में भी, साहित्यिक साधनाओं में भी, और हाथ के रचनात्मक काम में भी। विस्तार से बतलाने के लिए समय नहीं, लेकिन तनिक ध्यान देने से मालूम हो जाएगा, कि हाथ के काम में भी ये अवस्थाएँ बड़े व्यापक रूप में काम करने वाले के सामने आ सकती हैं। इसलिए अगर हम अनुभवगम्य ज्ञान और रचनाशील कलात्मकता को वास्तविक मानें, तो अपने उन बुनियादी मदरसों में हाथ के काम से यह विकास-सम्बन्धी सेवा का साधन जुटाना और भी ज़रूरी है।

यह जो व्यावहारिक शिक्षा का मूल-तत्त्व, शिक्षा का काम, अनुभवगम्य ज्ञान और रचनाशील कलात्मकता की विकास-शक्ति के उद्देश्यों (तकाज़ों) से हम व्यक्ति के पूर्ण मानसिक विकास के लिए हाथ के काम को बुनियादी मदरसों में प्रचलित करना चाहते हैं, संयोग तो देखिए, कि समाज के सभी हितों का लक्ष्य भी यही है। जिस समाज में बहुत बड़ी जनसंख्या हाथ के काम को जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन बनाने पर मजबूर है, उसकी शिक्षा-विकास की संस्थाओं में हाथ के काम को स्थान न देना कहाँ की बुद्धिमानी है ? सच तो यह है कि राष्ट्रीय जीवन से ऐसी उदासीनता और उसकी मान्यताओं के प्रति इतनी उपेक्षा तभी हो सकती है, जब ये मदरसे कुछ गिने-चुने खुदग़ज़ों को ऊपर उठाने और उन्हें अपने सामाजिक जीवन से अलग करने का साधन हों। कहीं और यह उचित हो या न हो, लेकिन एक जन-तन्त्रवादी समाज में तो यह अविचारणीय बात है। हाथ के काम को मदरसे में जगह देकर यह जनतन्त्रवादी समाज वास्तव में उस कार्य को पूरा करेगा, जो इसका पहला शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य हो सकता है, यानी योग्य नागरिक उत्पन्न करना और इस तरह उत्पन्न करना कि जनतन्त्र के मूल आधार 'व्यक्ति' की सत्ता सुरक्षित रहे। वह इस प्रकार योग्य बने कि अपने व्यक्तित्व का भी उसे त्याग न करना पड़े, और वह अपने व्यक्तिगत विकास के साधनों से भी वंचित न हो।

अच्छा, अगर हमने व्यक्ति और समाज की शिक्षा-सम्बन्धी धारणाओं में यह सामंजस्य लाकर अपने बुनियादी मदरसों को काम का मदरसा बना दिया, और उनमें अनुभवगम्य ज्ञान और रचनात्मक ज्ञान, और उनके साथी, बल्कि सेवक के रूप में किताबी ज्ञान और मशीन के काम का ऐसा समन्वय (आमीज़ा) किया जाए, जिससे ६-७ से १४ साल तक के लड़के-लड़कियों के मानसिक अभ्यास का कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो सके, तो क्या हमने सब कुछ कर लिया, जो इनकी शिक्षा के लिए करना है ? खैर, सब कुछ तो यों भी कोई कभी नहीं कर सकता। लेकिन हमने तो शायद अभी अपना सबसे महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया है। हमने अगर मानसिक शक्तियों को विकसित

करने की व्यवस्था कर दी, अगर कलात्मकता उत्पन्न कर दी, तो भी शिक्षा का काम पूरा नहीं हो गया ! क्षमताएँ और कलात्मकताएँ न अच्छी होती हैं, न बुरी; वे अच्छी और बुरी बनती हैं उन उद्देश्यों से, जिनकी सेवा में वे लगाई जाती हैं। आपकी अदालतों में झूठ को सच बना कर रुपया बटोरने वाले, आपकी व्यापारिक फ़र्मों में काली-मंडी के लाल सौदागर और सामाजिक सम्पत्ति के चोर, आपके पदाधिकारियों में रिश्वत का बाज़ार गर्म करने वाले, पब्लिक का काम करने वालों में अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सामाजिक हितों को निःसंकोच बलिदान करने वाले, आपके विद्वानों और पंडितों, आपके योगियों और सूफ़ियों में सर्वसाधारण की अज्ञता और रूढ़िप्रियता से लाभ उठाने वाले, आपके झूठे गवाहों और जालसाज़ों के लालची मन इन सारी क्षमताओं और मानसिक विशेषताओं में किसी से पीछे तो नहीं हैं ! क्या हम अपने मदरसों को मानसिक क्षमताओं के चमकाने और पूर्ण करने की संस्था बनाकर उनमें फ़ौज के लिए रंगरूट बनाना चाहेंगे ? नहीं, शिक्षा निपुणता से नहीं, निपुणता को सदुद्देश्यों का सेवक बनाने से प्राप्त होती है। जनतन्त्रवादी समाज में इस तथ्य की उपेक्षा करना सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों और हितों की अवहेलना करना है। जब तक व्यक्ति अपनी शक्तियों को समाज की सेवा में लगाना न सीखे, उस समय तक इसकी कलात्मकता भ्रान्ति या अवगुण का कारण बन सकती है, और विशेषतया राज्य के अन्दर जो खोज-बीन करने की स्वतन्त्रता है, समाज की स्वतन्त्रता है, बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता है, उद्योग के चुनाव की स्वतन्त्रता है, इन सबसे व्यक्तित्व को विशृङ्खल बनाने वाली शक्तियाँ उभरती हैं। जो इन स्वतन्त्रताओं का महत्त्व समझते हैं, और समाज के लिए इन्हें हाथ से देने को बहुत महँगा सौदा समझते हैं, लेकिन जिन्हें सामाजिक जीवन का पतन भी सहन नहीं, उन्हें इस विभिन्न प्रकार के जीवन के साथ-साथ समाज के मानसिक विकास और राष्ट्रीय समाज के कल्याण (इस्तहकाम) की युक्तियाँ भी सोचनी चाहिए। उन्हें देखना चाहिए कि मदरसा एक सामाजिक संस्था होने के नाते इस दिशा में हमारी क्या सहायता कर सकता है।

आज तो वह शिक्षा से व्यक्तित्व को कुचलता है, इसलिए कि सब के लिए वह राह बनाता है, जो बहुत-कम के लिए सही राह हो सकती है; निर्माण और रचना के लिए बेचैन बच्चों को किताबों पर झुका देता है; उन औज़ारों की जगह जिनकी तरफ़ बच्चों की ललचाई आँखें तकती हैं, उन्हें क़लम-दवात देता है; उछलने-कूदने के लिए उत्सुक बच्चों को घण्टों चुप-चाप बैठने पर मजबूर करता है। एक ओर तो व्यक्तित्व के प्रति यह उपेक्षा और दूसरी ओर स्वार्थ की राहों पर उन्हें चलाने के लिए वह व्यवस्था। बस ! भगवान् बचाए ! अपने मदरसों के पाठ्यक्रम को, इनके कामों को तनिक ध्यान से देखिए और उनका विश्लेषण कीजिए, तो मालूम होगा कि इनमें शायद एक-ही धन्धा होता है, वह यह कि व्यक्तियों का बुद्धि-विवेक, इनकी स्वातन्त्र्य-शक्ति, इनकी कलात्मकता—सब बस व्यक्ति के लिए ही विकसित हों। इससे सामाजिक क्रियाओं को प्रकट होने का अवसर मिलता है, क्योंकि न तो वे उभरती हैं, न विकसित होती हैं। मस्तिष्क को जाग्रत किया जाता है, मन को सुलाया जाता है; अधिकार याद रहते हैं, कर्त्तव्य भुलाए जाते हैं; व्यक्तिगत स्वार्थपरता के ढाल पर बच्चे ढकेले जाते हैं; सामाजिक उदारता और सेवा के द्वार बन्द रहते हैं; दूसरे को कुहनी मारकर ख़ुद आगे बढ़ जाने का अभ्यास किया जाता है; साथी को सहारा देकर आगे बढ़ाने का कहीं नाम नहीं; सब अपने-अपने लिए हैं—सब के लिए कोई नहीं ! हाँ, ज़बान से कभी-कभी राष्ट्रीय सेवा, पड़ौसी के अधिकारों, परस्पर सहयोग का कोरा उपदेश दिया जाता है। लेकिन करने के काम बातों से पूरे नहीं होते। चरित्र का निर्माण केवल बात बनाने से नहीं होता। जीवन से वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कल्पना और अनुभव के अतिरिक्त क्रियाशीलता (अमल) भी अपेक्षित है। अपनी क्षमता के अनुसार कुछ समाज-सेवा करने में इसके विकास का रहस्य निहित है। अच्छा समाज अपने व्यक्तियों को इसका अवसर देता है कि वे मिल-जुल कर उसके लिए कुछ करें और उस पर ख़ुश हो सकें। अच्छा मदरसा भी सामाजिक कार्य के द्वारा सब की मिली-जुली ख़ुशी के मौक़े निकालता है। काम की

सफलता से खुशी तो व्यक्तिगत प्रयत्न करने में भी होती है, मगर वह सामाजिक उद्देश्यों से मेल नहीं खाती। काम की इस व्यक्तिगत खुशी को जो कि स्वार्थपरता का इंजिन है—सामाजिक उद्देश्यों की पटरी पर डाल देना चाहिए। व्यक्तिगत काम की खुशी को सामाजिक काम की लगन और उस पर सन्तोष और गर्व में बदल देना चाहिए। यों समाज से व्यक्ति का सम्बन्ध व्यक्ति के लिए हर्ष और गौरव का कारण बन जाता है, और व्यक्ति और समाज की गुत्थी दार्शनिक विवादों के बिना ही खुल जाती है।

अब देखना यह है, कि मिले-जुले काम की खुशी किस तरह के काम से मिल सकती है। मैं समझता हूँ, कि यह तब मिलती है, जब काम करने वाले की क्षमता और उसकी प्रवृत्तियाँ उसके स्वाभाविक झुकाव के अनुसार हों। और सज्जनो, आप से अधिक कौन जानता है, कि यह क्षमता क्या होती है, और यह झुकाव किधर होता है, किताबों की तरफ़ होता है या रचनात्मक काम की ओर? इसलिए व्यक्तिगत रुझान और राष्ट्रीय समस्याओं की हमेशा से यही माँग है, कि हमारे किताबी मदरसे रचनात्मक काम के मदरसे बन जाएँ। इस पहले क़दम से पूरा लाभ उठाने के लिए दूसरा क़दम यह जरूरी है, कि रचनात्मक काम की व्यक्तिगत लगन को सम्मिलित—सामाजिक कामों में लगाने की योजना की जाए, और मदरसे को एक क्रियाशील समाज का रूप दे दिया जाए। और जब स्वार्थपूर्ण कार्य की भावना समाज-सेवा की भावना में परिणत हो जाए, और एक सुदृढ़ रूप धारण कर ले; दूसरे की मदद करने, दूसरे से मदद लेने की आदत पड़ने लगे और अपने दायित्व का अनुभव भी होने लगे—तो तीसरा क़दम यह है कि प्रवृत्तियों को शील के साँचे में ढाल दिया जाए। इस सम्मिलित कार्य की सामाजिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाए, और व्यक्तिगत तथा सामाजिक आवश्यकताओं के साथ-साथ उसको पूरा करने के साधनों का भी निर्देश किया जाए। और चौथा क़दम यह है, कि छात्रों की विभिन्न कार्य-व्यवस्थाएँ प्रायः उन्हीं के हाथों में सौंप दी जाएँ। क्योंकि दायित्व का अनुभव और अपने कार्य को यथाशक्ति सुचारुता से पूरा करने की प्रवृत्ति स्वतन्त्र

और अनवरत रूप से काम करने के द्वारा ही पैदा होती है। मदरसे के अनुकूल वातावरण में स्नेहपूर्ण निरीक्षण और निर्देश के द्वारा ये मंजिलें भली-भाँति तय की जा सकती हैं। और मदरसा, उस स्वाधीन जनतन्त्र राज्य की, जो इसे चलाता है, सबसे हितकर व उपयोगी संस्था बन सकता है, और उस राज्य को एक समुन्नत राज्य बनाने में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण भी सिद्ध हो सकता है। सज्जनो! मैंने आपका बहुत समय ले लिया, लेकिन समझता हूँ, कि अगर अपने बुनियादी मदरसों में, यानी अपनी राष्ट्रीय शिक्षा के सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में, अगर हमें कुछ करना है, तो बस करने की चीज यही है, कि इन मदरसों को सूचनात्मक (खबरी) ज्ञान के केन्द्रों की अपेक्षा अनुभवगम्य ज्ञान के मदरसे बनाना चाहिए; किताबों के मदरसे की जगह काम का मदरसा बनाना चाहिए; व्यक्तिगत स्वार्थपरता की जगह निःस्वार्थ समाज-सेवा का विद्यालय बनाना चाहिए; साहित्यिक और दृष्टिकोण-सम्बन्धी एक-देशीयता या संकीर्णता की जगह इनमें जीवन की क्रियात्मक विविधता को भी स्थान देना चाहिए। यह कठिन काम है, मगर जरूरी काम! हमारा उज्ज्वल भविष्य इस अभिलाषा की सफलता पर निर्भर है। इस काम में आपके बहुत से सहयोगी होंगे और उससे कहीं अधिक रुकावट डालने वाले। लेकिन यह काम तभी हो सकता है, जब अध्यापक अपने कर्त्तव्य को समझें, और शिक्षा के प्रति अपने दायित्व को पहचाने। मुझे विश्वास है, कि 'न्यू एज्यूकेशन फ़ैलोशिप' के कार्यकर्त्ता इस क्षेत्र में, और इस दिशा में, और-सबसे आगे रहेंगे!

[यह अभिभाषण २४ फरवरी, सन् १६४६ ई० को 'न्यू एज्युकेशन फ़ैलोशिप, पंजाब' के अधिवेशन पर सेण्ट्रल ट्रेनिङ्ग कॉलेज, लाहौर में दिया गया।]

शील का विकास

सभापति महोदय और सज्जनो !

मैं अपने परम आदरणीय और कृपालु शिक्षा-मन्त्री[1] तथा अपने प्रिय मित्र पीरज़ादा[2] साहब का हृदय से आभारी हूँ, कि आपने मुझे इस अवसर पर आमन्त्रित किया और इस उपाधि-वितरण के समारोह पर अपने उन छात्रों का ध्यान आकर्षित करने का सौभाग्य प्रदान किया, जो यहाँ पर अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर चुके हैं। मैं इसलिए और-भी आपका आभारी हूँ कि आपने मुझे पहली बार उस भावलपुर राज्य में उपस्थित होने का अवसर दिया है, जिसके प्रतिभा-सम्पन्न शासकों के नाम से उस अब्बासी-वंश की स्मृति अभी जीवित है, जिसकी सेवा-भावना के लिए न्याय, ज्ञान और नीति की मान्यताएँ सदा ऋणी रहेंगी—ईश्वर उन्हें अपनी सृष्टि की सेवा करने की क्षमता और ज्ञान तथा नीति के प्रति उदारता प्रदान करे। इस नए बग़दाद (भावलपुर) में आकर अगर उस पवित्र नगर (बग़दाद) की याद आए तो कोई आश्चर्य नहीं :

> "पड़ी ख़ाके एथेन्ज़ में जाँ जहाँ से।
> हुआ ज़िन्दा फिर नामे यूनाँ जहाँ से।"

जहाँ बराबर—"हरीमे-ख़िलाफ़त[3] में ऊँटों पै लदकर,

---

१. माननीय मेजर शम्सुद्दीन।

२. पीरज़ादा अब्दुर्रशीद साहब, प्रिंसिपल, भावलपुर कालिज।

३. ख़लीफ़ाओं के शासन-काल में।

चले आते थे मिस्रो यूनाँ के दफ़्तर !
वो लुक़मानो[१] सुक़राते[२] के दुर्रे-मकनूँ[३],
वो असरारे[४] बुक़रात[५] दरसे फ़लातूँ[६]।
अरस्तू[७] की तालीम, सोलन के क़ानूँ,
पड़े थे किसी क़ब्रे कोहना[८] में मदफ़ूँ।
यहीं आके मुहरे सकूत उनकी टूटी[९],
इसी बाग़े राना[१०] से बू उनकी फूटी।"

उस खलीफ़ा-वंश और सर्वश्रेष्ठ नगर बग़दाद के नाते यहाँ की शासन-प्रणाली और विशेषतया यहाँ के रचनात्मक और शिक्षा-सम्बन्धी काम करने वालों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। ईश्वर उन्हें इसके उठाने की क्षमता प्रदान करे; और आप सब में भी, प्यारे साहसी युवको ! इसके लिए उमंग और साहस पैदा हो, कि आप इस नये बग़दाद को उस पुराने बग़दाद के अनुरूप बनाने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ; उसकी प्रकांड विद्वत्ता, उसकी निष्पक्षता, उसकी उदार-वृत्ति को अपने लिए राह का दीपक बनाएँ और यथा-शक्ति कुछ कर दिखाएँ। सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्र में दीप-से-दीप यों ही जलता रहा है। शिक्षा और विकास के क्षेत्र में तो अतीत की समस्त मानसिक सम्पत्ति, आने वाली नस्लों की, पैतृक सम्पत्ति होती

१. नौबा देश के सुप्रसिद्ध हकीम।
२. यूनानी दार्शनिक।
३. बहुमूल्य मोती।
४. रहस्यपूर्ण बातें।
५. प्रसिद्ध हकीम।
६. सिकन्दर महान् के मुख्य मन्त्री अफ़लातून की शिक्षा।
७. यूनान के प्रसिद्ध हकीम।
८. प्राचीन।
९. मौन भंग हुआ।
१०. पुष्प विशेष।

है; और यही तो मानसिक जीवन का अवस्थानुकूल परिपोषण करती है। यही मानसिक विकास के शिखर पर पहुँचने का सोपान है। अतीत की सम्पत्ति में—क्योंकि वह सब-की-सब किसी-न-किसी मानसिक प्रयास ही के द्वारा बढ़ती है—मानवीय मस्तिष्क अपनी शक्तियों और क्षमताओं को भुला-सा देते हैं, छिपा देते हैं, सुरक्षित कर देते हैं। जब कोई दूसरा मस्तिष्क, जिसकी प्रवृत्ति का उस मानसिक प्रयास से कुछ सम्बन्ध हो, जिसने मानसिक शक्तियों को इन सांस्कृतिक पदार्थों में एक कोष की तरह छिपाकर सुरक्षित कर दिया है; हाँ, जब कोई दूसरा मस्तिष्क इन सांस्कृतिक पदार्थों से सम्बन्धित होता है, तो ये छिपी हुई शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं—सोई हुई क्षमताएँ सजग हो उठती हैं, और मानसिक विकास का कार्य सम्पन्न कर देती हैं। इसलिए अगर शिक्षा वाले अतीत की सम्पत्ति के प्रति उदासीनता प्रकट करें, तो सच यह है, कि वे शायद बिना समझे ही शिक्षा के महत्त्व की उपेक्षा करते हैं। शिक्षा का लक्ष्य ही अतीत की कर्मशील चेतना (Objectivity) को वर्त्तमान की आत्मीय चेतना (Subjectivity) में परिणत और जागृत करना है।

हाँ, इससे कोई यह समझ ले कि वर्त्तमान और भविष्य, अतीत की सम्पत्ति के द्वारा प्रगति नहीं कर सकते, तो बड़ी भूल होगी। क्योंकि यह समझना तो मानसिक विकास की यात्रा को बीच में ही समाप्त कर देना है। मस्तिष्क तो निःसन्देह अपनी पिछली कोशिशों ही से विकास पाता है, परिपोषित होता है। लेकिन विकसित होने पर विभिन्न मानसिक रूपों के अनेक साधन इसके सामने होते हैं। रूढ़िवादिता और मानसिक जड़ता, यदि इस विशाल क्षेत्र को संकीर्ण बनाना चाहें, तो इसका मतलब होगा एक जवान तेज घोड़े को कोल्हू का बैल बना देना। जीवन में सदा ही समस्याएँ बनी रहती हैं, और इसकी धारा अबाध गति से बहा करती है—कहीं ठहरती नहीं। परिस्थितियों का परिवर्त्तन नई व्यवस्थाएँ चाहता है, नई संस्थाओं की माँग करता है। एक नई कल की ईजाद, एक नई क्रियात्मक शक्ति की खोज—सम्पत्ति उपार्जित करने के वर्त्तमान साधनों को नष्ट कर देती है; कार्य-विभाजन

और संगठन के सारे नक्शे पलट जाते हैं, जीवन का ढंग ही कुछ और हो जाता है, और उसका एक नया आदर्श राजनीतिक और आर्थिक जीवन की जड़ों को हिला देता है, और एक नई नींव डालने पर मजबूर करता है। एक पवित्र अंकुर अपनी जड़ों को मनुष्य के अन्तस्तल में दृढ़ता से जमा कर अपनी शाखें आसमान तक पहुँचा सकता है। इसलिए एक अच्छे जीवन का आदर्श हज़ारों-लाखों नहीं, करोड़ों मनुष्यों के लिए मंगलकारी बन जाता है। एक दुर्विचार, एक अहितकार—किन्तु आकर्षक आदर्श, दीर्घकाल तक, जीवन के स्रोतों को विषैला बना सकता है। एक स्वार्थ, एक हठ, एक अदूरदर्शिता ही—प्रायः अगणित राष्ट्रों के जीवन को अभिशाप बना सकती है। जिस जीवन का सन्तुलन इतना अच्छा हो, उसकी माँगों को एक जड़-मस्तिष्क कभी पूरा नहीं कर सकता। अतीत वास्तव में कोई लक्ष्य नहीं वरन् प्रगति और स्फूर्ति प्रदान करने वाला पाथेय है। बग़दाद के कार्यों की उपेक्षा करना तो अपनी पैतृक सम्पत्ति (मीरास) को ही ठुकराना है, सफ़र पर बिना सामान के चल खड़ा होना है। लेकिन सफ़र बग़दाद से बग़दाद का नहीं है। जो बनाना है वह, वह नहीं जो बनाया जा चुका है। बनाना फिर से बग़दाद नहीं है, एक नया बग़दाद बनाना है!

उस नए जीवन, उस नए विधान, उन नई संस्थाओं, उस नई संस्कृति, उस नए बग़दाद के निर्माता आप नौजवान ही तो होंगे! उस सामाजिक संस्कृति के निर्माण करने की जटिल, किन्तु परम न्यायोचित माँग हमेशा यह रही है, कि निर्माता स्वयं अपना निर्माण करे; और प्रकृति ने उसे जो क्षमताएँ, जो शक्तियाँ, जो वृत्तियाँ, जो विशेषताएँ, जो प्रवृत्तियाँ और अभिलाषाएँ, सामान्यतः प्रदान की हैं, उनके अव्यवस्थित विशाल रूप को क्रमबद्ध और विकसित करे; उनमें सुसम्बद्धता और एकरसता उत्पन्न करे; और अपने विशृंखल व्यक्तित्व से एक महान् शील का निर्माण करे; और उस महान् शील को दृढ़तापूर्वक पूर्ण एवं महत्तर मान्यताओं से सम्बन्धित करके, एक स्वतन्त्र नैतिक व्यक्तित्व का समुन्नत रूप प्रदान करे। व्यक्तित्व से शील, शील से व्यक्तित्व—यही होती है निर्माताओं की निर्माण-पद्धति!

इन विचारों की विस्तृत व्याख्या करने का यह समय नहीं, केवल इतना संकेत करना आवश्यक समझता हूँ, कि शील के निर्माण के लिए चार बातों की बड़ी जरूरत होती है। इच्छा-शक्ति (will power) की दृढ़ता का एक छोटे-से-छोटा रूप, मौलिक चिंतन का एक नीचे-से-नीचा स्तर, सामाजिक चेतना की कुछ अनुभूति, प्रभावग्राहिका शक्ति का थोड़ा-सा विस्तार, गम्भीरता और दृढ़ता, इन चारों के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर दूँ, तो शायद अनुचित न हो।

मनुष्य की इच्छा (will) के सम्बन्ध में उसके व्यक्तित्व की चार विशेषताएँ सामने आती हैं—दो उससे पहले और दो उसके बाद ! इच्छा से पहले तो आत्मनिर्भरता और उसकी निर्णयात्मिका शक्ति प्रकट होती है। इच्छा के बाद उसकी दृढ़ता और व्यापकता सामने आती है। आत्मनिर्भरता तब प्रकट होती है, जब यह पता चले कि इच्छा स्वयं क्या हो, और किसी दूसरे ने वह हमारे सिर न थोप दी हो। जिनके स्वभाव में स्वयं अपने बल पर इच्छा करने की क्षमता न हो, जो हमेशा किसी और ही का मुँह तकते हों, उनमें भला शील की समरसता कैसे पैदा हो सकती है ? निर्णयात्मिका शक्ति से इच्छा तुरन्त बन जाती है, वर्ना अगर निर्णय करने में बराबर टालमटोल ही होती रहे, तो इच्छा (will) प्रकट होने की नौबत ही नहीं आती। शिथिलता के कारण कार्यक्षेत्र में नेकनीयती नहीं आ सकती, और शील के निर्माण में यह शिथिलता बहुत बाधक होती है।

दूसरी दो विशेषताएँ, जिनकी अभी चर्चा हुई है, इच्छा कर चुकने के बाद, अपना प्रभाव दिखलाती हैं। इसकी दृढ़ता का परिणाम यह होता है कि निर्णय करने के बाद इच्छा करने वाला अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है, वर्ना अगर हरेक निर्णय के बाद—उसे दोहराने-तिहराने का सिलसिला बना रहे, तो काम करने की नौबत ही नहीं आती, और इच्छा-शक्ति निष्क्रियता के कारण कुण्ठित हो जाती है। दूसरी विशेषता यानी दृढ़ता, इच्छा को बाधाओं और विरोधी शक्तियों के प्रभाव से बचाती है, वर्ना कितने ही शुभ संकल्प हैं, जो कि परिस्थितियों के प्रतिकूल होने से कार्यान्वित

नहीं हो पाते, और पूरे होने से पहले ही वे बदल दिए जाते हैं, या बिलकुल त्याग दिए जाते हैं !

इच्छा-शक्ति की दृढ़ता के कुछ कारण तो प्राकृतिक होते हैं, जिनके बारे में कुछ-और सोचना या करना किसी के बस की बात नहीं। लेकिन कुछ ऐसे कारण भी होते हैं, जिन पर अभ्यास और अन्तर्दृष्टि का भी प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए चतुर और कुशल अध्यापक अपने बच्चों से ऐसे काम कराते हैं, जिनके प्रत्याशित परिणामों से प्रोत्साहन मिलता है, यानी इरादा करने की उमंग पैदा होती है; और बच्चा बड़े चाव से दूसरे कठिन कामों की भी योजना बना सकता है। इच्छा-शक्ति का अनुमान करने में एक बात नवयुवकों को विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह कि इच्छा-शक्ति का उसके प्रारम्भिक आवेग से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए कि ऐसे कितने काम हैं, जो एक ही कोशिश में पूरे हो सकें, और वह कौन-सी सरसों है जो हथेली पर जम जाती हो। इच्छा या दृढ़ संकल्प वास्तव में आवेग और अवधि के गुणा का शेष होता है। हमारे नवयुवकों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए, कि हमारे राष्ट्रीय जीवन-निर्माण के प्रायः सभी कार्यों के लिए बहुत समय और बहुत धैर्य अपेक्षित है, और हमारे राष्ट्रीय जीवन के रोग अधिकतर ऐसे हैं, कि उनको दूर करने में हर साल पित्ता मारकर परिश्रम करना जरूरी है। राष्ट्रीय सेवा की इच्छा करने वाले नवयुवक यदि क्षणिक आवेश में इन रोगों में से किसी को दूर करने का निश्चय कर लें, और इस गुमान में हों कि बस एक हल्ले में ही क़िला जीत लिया जाएगा, तो उन्हें बड़ा धोखा होगा, और आश्चर्य नहीं कि निराशा उनकी कर्मशीलता को शिथिल कर दे और उनकी भावी योजनाओं की राह में एक बड़ा रोड़ा बन जाए।

शील के निर्माण के लिए दूसरी शर्त्त चिंतन की शक्ति है। जिस व्यक्ति में तर्कपूर्ण चिन्तन करने की क्षमता, ठीक परिणाम पर पहुँच सकने और उनको परख सकने की योग्यता न हो, और जिसका मस्तिष्क निर्विकार न हो, और जो ठीक-ठीक सोच-समझ भी न सके—वह भला कार्य में

समरसता कैसे उत्पन्न करे ? बस, अनायास ही प्राप्त हुए अनुभवगम्य ज्ञान और आदत की लकड़ी के सहारे, वह कुछ क़दम चल सकता है, जैसे कोई अन्धा टटोल-टटोल कर चले। परन्तु इस पल-पल के परिवर्तनशील संसार में पग-पग पर अप्रत्याशित परिस्थितियों और असामान्य घटनाओं का सामना करना पड़ता है। जिसे बुद्धि निर्णय करने में योग न दे सके, वह निर्णय ही नहीं करता, और कार्य करने की प्रेरणा को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता है, या संयोग और भाग्य के सहारे डगमगाता हुआ आगे बढ़ता है। एक काम और दूसरे काम में सामञ्जस्य नहीं होता—एक क़दम आगे बढ़ता है, तो दूसरा पीछे पड़ता है। तर्क-पुष्ट प्रमाण और दार्शनिक चिन्तन की क्षमता किसी में जन्मजात नहीं होती। इसके लिए मानसिक अभ्यास करना होता है, इच्छा-शक्ति के द्वारा यह आदत डालनी होती है कि हरेक नतीजे पर बहस की जाए—उसे जाँचा जाए—परखा जाए; यही नहीं, बल्कि कोशिश करके उन प्राकृतिक बाधाओं को भी दूर किया जाए, जो तर्कपूर्ण चिन्तन की प्रवृत्ति में पग-पग पर बाधक होती हैं। भावों के तूफ़ान, आतुरता की फिसलन, मन की आशंकाएँ, स्वार्थ-वृत्ति के धोखे, विवेकहीन बातों की भ्रान्ति, पक्षपात के अँधेरे—इस तर्कपूर्ण चिन्तन की राह में क्या कुछ बाधक नहीं ? फिर—अगर राह के इन झाँकड़ों को अथक प्रयत्न से दूर भी कर दिया, तो यह कठिनाई सामने आती है कि तर्कपुष्ट चिन्तन की कोई ऐसी सामान्य क्षमता नहीं कि जिसे विकसित करके जीवन के हर क्षेत्र में ठीक तर्क-सम्मत परिणामों पर पहुँचने का निश्चय हो सके। बस, हर झगड़े पर सन्देह करने और उसे परखने की आदत डाली जा सकती है। मगर शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर कोई प्रयोगात्मक अभ्यास प्रश्नों के हल में सहायक नहीं होता। केवल सैद्धांतिक अभ्यास ही मानसिक विशेषताओं (अख़लाक़) के क्षेत्र में काम नहीं आता। यदि नैतिक समस्याओं के लिए तर्कपूर्ण चिन्तन की आवश्यकता हो, तो कुछ नैतिक विचार और नैतिक सिद्धान्त भी तो पहले से मौजूद होने चाहिए; और सिद्धान्त ही काफ़ी नहीं, उन्हें कार्यान्वित करने का अवसर

भी मिलना जरूरी है। नैतिकता की दुनियाँ में यह मालूम होने से कि नेकी क्या है—आदमी नेक तो नहीं बन जाता, क्योंकि नेक बनने के लिए नेकी करना भी तो जरूरी है!

आप जिस जिन्दगी में क़दम रख रहे हैं, उसमें तर्क-पूर्ण चिन्तन से प्रवंचित करने वाले व्यक्ति आपको पग-पग पर मिलेंगे। राजनीतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता बेचने वालों की पुकारें, समय की सुहानी रागिनियाँ, सर्व-सम्मति और सर्वप्रिय खोखले तर्क, असम्भव माँगें, जिदें, हठधर्मियाँ, सामाजिक स्वार्थपरता—ये सब, और न जाने और क्या-क्या, और कौन-कौन, आपको सही नतीजों पर पहुँचने से रोकेंगे। आपको अगर अपने शील का निर्माण अभीष्ट होगा, तो आप इन सबका सामना करेंगे। इनको मिटाने में जो आपको मानसिक कष्ट होगा, उसे खुद अकेले ही सहन करना होगा। अपने चिन्तन की रक्षा आप उसी तरह करेंगे, जैसे चोरों और डाकुओं से किसी मूल्यवान् कोष की; और शील के लिए इस दूसरी शर्त को पूरा करने की कोशिश करेंगे; वर्ना शायद आप उस परिश्रम से तो बच जाएँ, जो तर्कपूर्ण चिन्तन के विकास के लिए जरूरी है; शायद आप बहुतों को खुश भी रख सकें—लेकिन आप आप न बन पाएँगे—दूसरों की बस छाया बनकर रहेंगे—और व्यक्तित्व से शील—और शील से मनुष्यता तक पहुँचने का सफ़र, मंजिल से पहले-पहले ही ख़त्म हो जाएगा।

शील के विकास के लिए तीसरी शर्त यानी पदार्थों और मनुष्यों से सम्पर्कित होना, दूसरे से प्रभावित होने की शक्ति का एक छोटे-से-छोटा रूप है। यदि यह न हो, तो शील का विकास बड़ा कठिन हो जाता है। बाह्य जीवन की क्रियाशीलता में यह बात प्रसिद्ध है, कि लोग एक-दूसरे से भिन्न होते हैं; कोई वह सब सुनता है, जिसके लिए दूसरों के कान बहरे होते हैं; कोई रंग के उन भेदों को देखता है, जिन्हें दूसरों की आँखें नहीं देखतीं; वह सूँघता है, जो दूसरे नहीं सूँघते; वह स्वाद चख लेता है, जो दूसरे नहीं चख पाते; छूकर वह बात अनुभव कर लेता है, जिसे दूसरे अनुभव नहीं करते। चित्रकार, सफल गायक, मोती परखने वाले, जवाहिरात के

व्यापारी, चाक पर कुम्हार, और प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक—ये सब ही अपनी प्रभावग्राहिका शक्ति (जकावते हिस) से दूसरे लोगों को अचम्भे में डाल सकते हैं। इस तरह मनुष्य की आत्मा मानवीय सम्बन्धों में भी ऐसी प्रभावग्राहिका शक्ति का प्रमाण देती है, जिससे कि दूसरे लोग चकित रह जाते हैं। कुछ लोग बहुत भावुक होते हैं, कुछ इसके बिलकुल विपरीत ; कुछ बहुत तेज़, कुछ बहुत सुस्त ; कुछ बड़े बुद्धिमान्, कुछ बड़े बुद्धू ; कुछ बहुत जल्दी दूसरों को समझ लेते हैं ; आसानी से हमदर्दी करते हैं ; स्वभावतः दूसरों का ध्यान रखते हैं ; इशारों में मतलब भाँप जाते हैं ; और दूसरे की अन्तरात्मा तक आन-की-आन में पहुँच जाते हैं। पर कुछ इसके बिलकुल विपरीत भी होते हैं। अगर मनुष्यों और चीज़ों को बरतने का मौक़ा मिलता रहता है, तो यह विशेषता सरलता से विकसित हो जाती है। किताब के कीड़े और सूचनात्मक ज्ञान के बोझ से दबे हुए लोग, कभी-कभी इससे वंचित रहते हैं। जीवन की असफलताएँ, बचपन में मन का मर जाना, सांसारिक जीवन का बोझ आदि सभी बातें मनुष्य को प्रायः इस चेतना-शक्ति से वंचित कर देती हैं। स्वार्थान्धता और अहंकार की भावना भी धीरे-धीरे मनुष्य को इस सद्वृत्ति से वंचित कर देती है, और उदार सेवा-भाव और स्वार्थहीन सम्पर्क इसको निखार देते हैं। मनुष्यों के सम्पर्क में, काम करने के विविध अनुभवों में, तरह-तरह की संगति में, और जीवन की दौड़-धूप में—यह वृत्ति विकास पाती है। एकाकीपन में यह प्रायः संकीर्ण हो जाती है, समूह में खिलती है ; अकेलापन इसे दबाता है, सामाजिकता इसे उभारती है। वस्तुतः शील के विकास में इसका बड़ा हाथ है। जो इससे वंचित होते हैं, वे जीवन में कुछ भूले-भटके-से रहते हैं, और शील के निर्माण में इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व का उपयोग नहीं कर पाते।

शील के निर्माण में चौथी बात है मन की भावुकता; यानी यह कि आत्मा—निरीक्षण और चिन्तन से—कितनी और कब तक प्रभावित होती है। इन से भावों की जो लहरें चेतनता (शऊर) की सरिता में उठती हैं, वे कितनी गहरी होती हैं, और कितनी देर तक चलती हैं। ऐसे लोग भी

होते हैं, जिन पर किसी चीज़ का प्रभाव नहीं होता, या बहुत-ही कम होता है। पत्थर को कोई आदमी कैसे बना दे, और गोबर का ढेर इन्सान के दिल की तरह कैसे धड़कने लगे। ऐसे लोग भी होते हैं, जो आसानी से भड़क जाते हैं। हवा का हर झोंका यहाँ हलचल पैदा कर देता है, लेकिन उतनी ही आसानी से यह हलचल शान्त भी हो जाती है। इनके शील में समरसता उत्पन्न होना कठिन है। इन पर हर रंग चढ़ जाता है, मगर ज़रा-सी धूप में यह रंग उतर भी जाता है। ये हर तेज़ चलने वाले के पीछे चलते हैं, मगर बस थोड़ी-ही दूर। ये हरेक क्रान्ति के नेता बन जाते हैं, मगर बस कुछ दिन के लिए। बहुत जल्दी किसी पर मोहित भी हो जाते हैं, मगर प्रेमिकाओं को पोशाक की तरह बदलते रहते हैं। जीवन में कितनी ही बार धर्म बदलते हैं। रोज़ एक राजनीतिक दल को छोड़कर दूसरे में जा मिलते हैं। समाज को नित्य एक नये ढंग पर चलाने को तैयार रहते हैं। हरेक इश्तिहारी दवा को आज़माना चाहते हैं। बड़े दिलचस्प होते हैं, ये भले आदमी! हल्के-हल्के लोग, मगर शील की समरसता इन्हें नसीब नहीं होती। शील दृढ़ बनता है उनका, जिनके मस्तिष्क में आकर कोई नया विचार जगह पाता है, तो जैसे हमेशा को उसमें जा बसता है, उनके शरीर के रेशे-रेशे में घुल-मिल जाता है। फिर तो ये सब नये विचारों को उस विचार के अधीन कर लेते हैं, उसी को सब नए अनुभवों और घटनाओं का केन्द्र बनाते हैं। जीवन-सागर की हर तरफ़ से बहने वाली हवा को उस मस्तूल में भरकर अपने शील की नौका को आगे बढ़ाते हैं। यह विचार उनका ओढ़ना-बिछौना हो जाता है। और यदि यह चिन्तन और मानस का सम्बन्ध सम्पूर्ण मान्यताओं (absolute values) के साथ स्थापित हो जाए, तो फिर हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं; कि हमारा सोना-जागना, मरना-जीना सब-कुछ उसी के लिए है। जिन लोगों की सहज भावुकता में इतनी गहराई और दृढ़ता होती है, वे बड़ी सरलता से एक सुगठित शील के साँचे में ढल जाते हैं।

सुगठित शील की ये चार शर्तें, जिनका उल्लेख मैंने अभी किया है,

अगर शिक्षा-काल में अध्यापक के ध्यान में रहें, तो वह उपयुक्त उपायों के द्वारा इनको पूरा करने की व्यवस्था करता है, और विद्यार्थी के व्यक्तित्व को दबाए या मिटाए बिना ही उसके तत्त्वों को सुसंगठित करने की चेष्टा करता है। लेकिन आप जो इस समय मेरी बात सुन रहे हैं, जो अपनी परम्परागत शिक्षा को पूरा करके इस कॉलिज से उपाधि लेकर जा रहे हैं—आपके लिए अब ये अध्यापक क्या कर सकेंगे? अब तो यह सब कुछ आप ही को करना होगा। आपको अपनी शिक्षा-दीक्षा अब बिलकुल अपने ही हाथ में लेनी होगी।

शिक्षा में बाहरी और भीतरी रूप, अनुशासन और स्वतन्त्रता, दूसरे की बताई राह पर चलना और अपने-आप राह निकालना और उसे तय करना—इन दोनों की निश्चित सीमाओं और परिणामों का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण और साथ ही कठिन भी है। लेकिन जीवन की जिस अवस्था में आप पहुँच रहे हैं, उसमें बाह्य निर्माण का काम लगभग समाप्त हो चुकता है, और आन्तरिक विकास का समय आ जाता है। ज्यों-ज्यों शील का निर्माण नैतिक आधार पर होता जाता है, उसी तरह अध्यापकों और माँ-बाप का दायित्व भी घटता जाता है, और अपनी शिक्षा-दीक्षा को अपने हाथों में लेने का समय आ जाता है।

इस अपनी शिक्षा से आपका मतलब क्या है? क्या बस कुछ शब्द हैं कि कह दिए, या उनमें कोई सार भी है? बस, सोचना-विचारना है, या जो कर दिया उसे पूरा करने के लिए अथक प्रयत्न की आवश्यकता है? अपना विकास आप करने का मतलब है अपनी आत्मा को—जो कि हीन और महान्, छोटे और बड़े, असफल और सफल सभी में एक-समान है—समुन्नत बनाने का निरन्तर प्रयास करना; हीन वृत्तियों (Base instincts) बुरी आदतों और इच्छाओं, दुर्विचारों और दुर्भावनाओं की दलदल से अपने को निकालकर—एक महान् चरित्र के उत्तुंग शिखर पर पहुँचाना; अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं और प्रवृत्तियों में समरसता और एकाग्रता उत्पन्न करके, अपने शील की सारी शक्ति को इन नैतिक आदर्शों का अनुगामी

बनाना और नैतिकता के लक्ष्य की ओर—असफलताओं और निराशाओं के बाधक होने पर भी—बराबर बढ़ते जाना। यह काम सचमुच जीवन-संग्राम में एक सिपाही का काम है। वह सिपाही उन विरोधी और दूषित शक्तियों ही से लोहा नहीं लेता, जो बाहर से जीवन के रूप को बिगाड़ना चाहती हैं; बल्कि उन दूषित शक्तियों से भी भिड़ता है, जो भीतर-ही-भीतर आत्मा की जड़ों को घुन की तरह खाती रहती हैं, जो छिपकर आत्मिक जगत् का विनाश करती हैं, और आदर्श चरित्र के उपवन को उजाड़ती रहती हैं। सच्चा सिपाही इनसे भी लड़ता है, और उनसे भी। यह समाज के जीवन को भी बड़ी-बड़ी मान्यताओं का सेवक बनाना चाहता है, और अपनी मानवीय क्षमताओं को भी। इसकी दृढ़ता, इसकी आत्मनिर्भरता, इसकी सत्यता, और उच्च मान्यताओं में इसका दृढ़ विश्वास—इस जीवन-संग्राम में इसके अस्त्र होते हैं, और आत्म-संयम, निःस्वार्थ-सेवा और चारित्रिक बल इस संग्राम में इसके सच्चे साथी बनते हैं।

जीवन में हम जिस मनुष्य को समझते हैं, कि वह आत्म-संयमी है, उसका बड़ा सम्मान करते हैं, जिससे मालूम होता है, कि हम इस विशेषता की दिल से क़द्र करते हैं। हो सके, तो इसे अपने अन्दर भी पैदा करने की कोशिश करें। मगर बस ध्यान इधर नहीं आता। इस चारित्रिक विशेषता का निर्माण आज्ञापालन से होता है—पहले, बच्चे की उस आज्ञाकारिता से, जिसका वह विवश होकर पालन करता है; फिर बड़ों की उस आज्ञाकारिता से, जिसका वह स्वेच्छा से पालन करता है; इनमें से एक को बाह्य आज्ञाकारिता कह सकते हैं, और दूसरी को स्वाभाविक। पहली में भय का बहुत-कुछ अंश होता है, दूसरी में बुद्धि और विवेक अधिक होता है। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है—भय का प्रभाव कम होता जाता है। आपको जब कि आप जीवन में संघर्ष का यों ही सामना करने के लिए कमर कस रहे हैं, और घर और मदरसे और कॉलिज के प्रभाव से मुक्त होकर अपने विकास की स्वयं व्यवस्था करने के लिए अग्रसर हो चुके हैं—यह जानना चाहिए कि अगर घर और मदरसे और कॉलिज ने आप में स्वाभाविक आज्ञाकारिता

की नींव नहीं डाली है, तो आपके इस नए काम की कठिनता—असम्भवता में परिणत हो सकती है। यदि आपकी जीवन-यात्रा के ऐसे कुछ नैतिक सिद्धान्त भी नहीं हैं, जो आपके रचनात्मक जीवन को प्रभावित कर सकें; अगर आप मान्यताओं के प्रति सजग नहीं हैं; अगर नैतिक निर्देशों के पालन करने की रीति को सुगम बनाने वाले संस्कार आप में पड़े ही नहीं हैं; तो यों समझिए, कि आप जैसे तैरने का अभ्यास किए बिना ही नदी में कूद रहे हैं, और नदी भी तूफ़ानी है, जिसमें पग-पग पर भँवर पड़ रही हैं; या आप जैसे बिना ठीक तैयारी के एक बिगड़े हुए शैतान घोड़े की नंगी पीठ पर बैठ रहे हैं, न हाथ बागडोर पर हैं, न पाँव रक़ाब में। पर, ईश्वर ऐसे लोगों की भी मदद करता है, और कभी-कभी ये भी डूबते नहीं—आशा के तट पर पहुँच जाते हैं; और गिर कर चूर-चूर नहीं होते, बल्कि मनचाही मंजिल पर ही उतरते हैं। बस, यह तो उसकी दया है, जिस पर हो जाए! कभी किसी की एक प्रेरणा, कभी जीवन की कोई एक विशेष घटना, अन्तर्जगत् की कोई बड़ी उथल-पुथल—अतीत के अभावों को पूरा कर देती है; मनुष्य को किसी नैतिक सिद्धान्त का सहारा मिल जाता है, और अब वह अधिक सावधानी और तत्परता से उसका पालन करके, पहले से आदतों के न पड़ने की कमी को जैसे-तैसे पूरा कर लेता है। लेकिन आपमें से बहुतों को आपकी शिक्षा-दीक्षा ने, कुछ-न-कुछ विचार और कुछ-न-कुछ आदतें तो इस जीवन की कठिन यात्रा के लिए साथ दी ही होंगी। उन नैतिक विचारों को भली-भाँति समझते जाना, उनकी उपयोगिता के ज्ञान के द्वारा स्वाभाविक आज्ञाकारिता की भावना को दृढ़तर बनाते जाना—यह अब की शिक्षा के विकास का काम है, जिसे खुद आप को पूरा करना है; और उस नैतिक अन्तर्दृष्टि के विकास के लिए यह आवश्यक है कि आप में सचाई और ईमानदारी हो। आप खुद तो अपने से झूठ न बोलें, खुद अपने को तो धोखा न दें! आदतों को मजबूत करने के लिए आवश्यकता है अभ्यास की, और अभ्यास के लिए अवसर की। जीवन के हर मोड़ पर इसके लिए अवसर मिलता है। जो इससे काम लेता है, वह अपनी आदतें सुधारता

जाता है। आपकी आत्मा के दो रूप हैं—एक तो पाशविकता का जन्मजात रूप है, और दूसरा मनुष्य के मानसिक प्रयत्न का परिणाम है; एक स्वभावगत है, दूसरा नैतिकता का अनुगामी है; एक मनमाना जीवन चाहता है, और दूसरा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने आपको नैतिक सिद्धान्तों के बिलकुल अनुकूल बनाना चाहता है। आपका हृदय इन दोनों ही के संघर्ष का स्थल है। इस संघर्ष में विजय किस की हो—मानव-प्रकृति की या नैतिकता की, पाशविकता की या मानवीय उच्च मान्यताओं की। तो, आत्मा के दूसरे रूप की सफलता का साधन जुटाना, और बराबर जुटाते रहना, आपकी-अपनी स्वाभाविक क्रिया है।

आपके द्वारा जीवन में जो काम पूरे होंगे, उनमें से कुछ तो अपने-आप होने वाले (automatic) कामों की प्रतिक्रिया (reaction) के रूप में होंगे। उनसे शील के विकास में अधिक सहायता न मिलेगी। विकास के लिए सोचने-समझने की जरूरत है, कुछ रुक कर देखने की आवश्यकता है। उस मशीन की-सी प्रतिक्रिया में इसका अवसर ही नहीं मिलता। कुछ काम, उन आदतों से भी पैदा होंगे, जो पहले किये गए अरुक अभ्यास के फलस्वरूप बन चुकी हैं। ये भी यथार्थ में विकास का कार्य सम्पन्न नहीं कर सकेंगे। हाँ, जो काम नए भावों और विचारों, नैतिक मान्यताओं और माँगों के द्वारा पैदा होंगे, वे अपना विकास आप करने में बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये नए विचार और मान्यताएँ इसके लिए प्रेरित करती हैं, और प्रेरणा जितनी अधिक स्पष्ट होती है—उसे कार्यान्वित करना उतना ही सुगम होता है। किन्तु केवल प्रेरणा का स्पष्ट होना ही सब कुछ नहीं होता—इसमें संकल्प-शक्ति की दृढ़ता भी अपेक्षित है, जो दूसरे बिगड़े कामों को, इच्छाओं और स्वार्थों के प्रलोभन को, दुरात्मा के धोखों को, लालचों और बच्चों के-से मनबहलाव को—जो कि हरेक नैतिक प्रेरणा और शुभ संकल्प के विरुद्ध अपार संख्या में मनुष्य के हृदय में उभरते हैं—दबा सके। और यदि ये अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ, एक बार दब कर, फिर हृदय के किसी कोने में जा छिपें, और समय पाकर फिर असावधानी की अवस्था में आक्रमण करें,

तो उन्हें पराजित करना और दबाये रखना इस बात पर निर्भर है कि आप की नैतिक माँगों से जो शक्तियाँ पैदा हुई हैं, वे किस प्रकार की हैं—क्षणिक हैं या स्थायी ? इस कठिन काम में चित्त की एकाग्रता तभी सुलभ होती है, जब मनुष्य अपनी क्षमताओं, अपनी दुर्बलताओं, अपनी विशेषताओं और अपने दोषों से पूरी तरह परिचित हो, अपने को पहचानता हो। और यह अपनी पहचान कैसे पैदा होती है ? बैठे-बैठे अपने-आप ही अपने में पैदा नहीं हो जाती, न कोई आकर चुपके-से कान में यह रहस्य बताता है। इसका पता काम करने से, कर्म-भूमि में कूद पड़ने से चलता है, स्वतन्त्रता के साथ सही और ग़लत दोनों राहों पर चलने का अवसर मिलने से, जीवन की कटुता और मधुरता दोनों को चखने से, भलाई करने से और बुरा करने से, ठोकरें खाने और ठोकर खाकर सँभलने से, अपराध से और पश्चात्ताप से चलता है। सफलताओं की अपेक्षा असफलताएँ इसका पता देती हैं। ग़लती का मौक़ा न पाकर सही काम करते रहने वालों को, अपराधों की सम्भावना से दूर भोलेपन पर ही गर्व करने वालों को, इसका पता नहीं चलता। इसका सच्चा जानकार तो वह होता है, जो अपराधों की ठोकर खाता है, गिरता है, मगर गिरकर अपना सिर पश्चात्ताप से झुका लेता है। अपने को पहचानने के लिए जरूरत है कि आदमी आज़ाद हो, और उसे स्वतन्त्र रूप से काम करने का अवसर दिया जाए। लेकिन काम की स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी, अपना विकास वही कर सकता है, जिसमें सचाई की भावना सक्रिय हो। इसका कह देना सरल है—करना मुश्किल ! मनुष्य को शायद कोई वस्तु इतनी प्रिय नहीं, जितनी अपने बारे में अच्छी बातें सुनना। ख़ुशामद का सारा जादू उसी पर छाया रहता है, और दूसरे न करें, तो ख़ुद अपनी ख़ुशामद कर लेता है, अपने को धोखा देता है, अपने से झूठ बोलता है। जिस पर आत्मवंचना (self-delusion) का यह भूत सवार हो, वह स्वच्छन्द कार्य की दुनियाँ में भी अपने को भूला रहता है। इसलिए हर मनुष्य का, जो अपना नैतिक विकास आप करना चाहता हो, सब से बड़ा कर्तव्य यह है, कि वह इस दुश्मन से सदा चौकन्ना रहे, क्योंकि

जरा आँख झपकी और इसने वार किया। अपने से अपने बारे में सच बोलने की आदत बड़ी क़ीमती आदत है, और यह आदत डालने से पड़ती है, आप-ही-आप नहीं पड़ जाती। बहुत-से मनुष्य तो कर्मभूमि में ऐसे खो जाते हैं, कि अपनी सुधि ही भुला देते हैं। ये लोग काम में लग कर उसके गुण-दोषों के प्रति उदासीन हो जाते हैं। इनके लिए यह सोच लेना ही सब-कुछ होता है, कि यह मेरा काम है, इसलिए अच्छा ही होगा। जहाँ अपने काम पर दुश्मन की-सी कड़ी नज़र न रही, वहीं से मनुष्य की उन्नति रुक जाती है। अपने काम पर दूसरों की-सी आलोचनात्मक दृष्टि रखना, अपने संकल्प, मनोवृत्ति और व्यवहार को परखते रहने की आदत—मानवता के विकास के लिए अनिवार्य है। ऐसा न करना भूल है! मानवता के विकास के लिए जागृति आवश्यक है। आत्मा की अनेक दुर्वासनाएँ इसी असावधानी में विजय पा लेती हैं, और हारने वाले को मार्के की ख़बर भी नहीं होती। अपने से इतनी असावधानी अच्छी नहीं! स्वच्छन्द कार्य और उस पर कड़ी दृष्टि रखने के अवसर जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में मिलते हैं। मगर जो अपने शील के विकास के काम को मुख्य काम समझता है, वह अपने लिए निःस्वार्थ सेवा के विशेष क्षेत्र की खोज में रहता है। इसमें काम के भीतर नैतिक स्वतन्त्रता का भरोसा उचित रूप में वर्तमान रहता है। "मधु-मदिरा के प्रलोभन"[1] के बिना जो काम किया जाता है, वह स्वतन्त्र दैनिक माँगों ही का परिणाम होता है। महान् व्यक्तियों के लिए तो यह क्षेत्र दिन-प्रतिदिन विशाल होता जाता है। किन्तु साधारण स्तर के मनुष्य भी अपने विकास के लिए कोई-न-कोई निःस्वार्थ सेवा का काम चुन सकते हैं। प्रायः किसी क्षणिक भावना से प्रेरित होकर मनुष्य ऐसे किसी काम का दायित्व अपने सिर मढ़ लेता है। उस क्षण को बहुत शुभ समझना चाहिए। उस काम को, चाहे वह छोटा-सा ही काम हो, बराबर पूरा करते रहना—आत्मविकास के लिए बड़ा उपयोगी होता है। वह पहले छोटा-सा काम होता है, मगर उस पर दृढ़ रहने से शील में एक आत्म-विश्वास की भावना

1. 'मओ अंगबीं की लाग'—ग़ालिब।

उत्पन्न हो जाती है, जो उसके कार्यक्षेत्र को विस्तृत और व्यापक बनाती है। और प्रायः एक छोटे-से निःस्वार्थ काम में भी संलग्न होना शील को बहुत दृढ़ बना देता है, और यही संलग्नता बढ़कर और फैल कर उसके विविध रूपों में बस जाती है। अभागे हैं वे, जो इससे वंचित हैं!

पहले कह चुका हूँ, कि शील के विकास का काम वास्तव में एक संघर्ष है, जिसमें मनुष्य कुछ शक्तियों का साथ देता है, और कुछ से लड़ता है। यह काम एक सिपाही का काम है। उस सिपाही की प्रमुख विशेषता उसकी नैतिक शक्ति होती है। जो शील का विकास करना चाहता है, उसे अपने अन्दर यह विशेषता पैदा करनी चाहिए। नैतिक शक्ति मनुष्य को पूर्ण नैतिक-मान्यताओं का एक-मात्र संरक्षक बना देती है; उसमें एक दृढ़ संकल्प पैदा करती है, कि जब और जहाँ ये पूर्ण (absolute) मान्यताएँ सुरक्षित न हों; जब उनके साथी बिछुड़ जायें और दुश्मनों का घेरा हो; जहाँ परम्परा, प्रवृत्ति या प्रमाद उनकी झूठी आज्ञाकारिता को भी, बस एक व्यर्थ का ढोंग-सा बना दें—तो ये उन्हें अनुप्राणित करने—उन्हें जीवित रखने में अपनी सारी शक्ति लगा दें;—जहाँ और जब कभी—जी हाँ—जहाँ और जब कभी! हमारा इतिहास तो ऐसी नैतिक शक्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के इतिहास में इसके उदाहरण मिल जाते हैं। यदि ऐसा न हो, तो राष्ट्र को अपनी सभ्यता का विशेष गौरव भी प्राप्त न हो। हर वह नवयुवक, जो अपने राष्ट्र के लिए यह गौरव प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने अन्दर यह सिपाही की-सी विशेषता उत्पन्न करने के लिए आकुल रहना चाहिए, और उसे प्राप्त करने के लिए उसका पूरा ज्ञान भी होना चाहिए। उसे जानना चाहिए, कि उसका एक मुख्य लक्षण तो वह वीरता या दृढ़ता है—जो अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, और दूसरों से अपनी झूठी प्रशंसा या कटु आलोचना होने पर भी—इस लक्ष्य में सदा सफलता प्रदान करती है। दूसरा लक्षण, उस नैतिक मान्यता पर पूर्ण विश्वास करना है, जिसके लिए उसने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी है। और तीसरा लक्षण यह है, कि उस मान्यता की रक्षा और उसके समर्थन के

लिए वह अपने दायित्व के प्रति सजग हो। विवेकपूर्ण दायित्व और धैर्य व दृढ़ता के साथ उसके लिए प्राण तक देने की तत्परता से ही नैतिक शक्ति उत्पन्न होती है। उसमें न गर्व की गन्ध होती है, न केवल भावों की बहुलता। यह खुली आँखों धधकती आग में कूद पड़ती है, और मुस्कराती हुई सूली पर चढ़ जाती है। यह किसी क्षणिक आवेश के फलस्वरूप प्रकट नहीं होती; बल्कि इसके लिए बड़ी लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है; यह एक मत के मनुष्यों के बीच में, बढ़-बढ़कर बातें नहीं बनाती; न तालियों और नारों और जयकारों की टटकारी पर चहचहाती है; यह जो कुछ भी कहती है, उसकी जिम्मेदारी का पूरा बोझ अपने कन्धों पर ही समझती है; यह भड़कती नहीं, सुलगती भी है; इसकी निशानी है समझी-बूझी जिम्मेदारी, और उसे पूरा करने के लिए लगातार कोशिश! इससे शील उच्चतर मान्यताओं का अनुगामी बन जाता है, और जो शील अपने को स्वयं ही पूर्ण मान्यताओं (absolute values) का सेवक बनाए, वह एक सफल व्यक्तित्व में परिणत हो जाता है। यह व्यक्तित्व (Individuality) विश्व-भर की शायद सबसे महत्वपूर्ण निधि है। इस पर देवदूत भी स्पर्धा कर सकते हैं, और ईश्वर भी अपनी इस सर्वोत्कृष्ट मानव-सृष्टि पर गर्व कर सकता है।

मेरा सन्देश आपको यही है, कि अपने शील के विकास का काम अब अपने ही हाथ में ले लीजिए। आत्मसंयम और निःस्वार्थ सेवा के द्वारा इसके तत्त्वों का पोषण कीजिए। अच्छे शील का निर्माण कीजिए, और उसे, पूर्ण तथा उच्चतर मान्यताओं का सेवक बनाकर, नैतिक व्यक्तित्व अर्थात् एक ईश्वर-भक्त और धर्मवीर योद्धा के रूप में, प्रतिष्ठित कीजिए। यह काम बड़ा कठिन है, और जीवन-भर का काम है। मगर इसी काम के करने के लिए ही तो यह जीवन मिला है। यह हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहने से कैसे पूरा हो सकेगा? इसमें तो सारा जीवन ही लगा देना चाहिए।